नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक

बिगुल

मासिक समाचारपत्र • पूर्णांक 117 • वर्ष 10 • अंक 2
मार्च 2008 • तीन रुपये • बारह पृष्ठ

महाराष्ट्र में 'पुरबिया' मेहनतकशों के ख़िलाफ़ शुरू हुई नयी क्षेत्रवादी मुहिम का विरोध करो!

मेहनतकशों की क्रान्तिकारी एकजुटता कायम करो!
फासीवादी ताक़तों के मंसूबों को नाकाम करो!!

सम्पादक

राज ठाकरे-बाल ठाकरे द्वारा महाराष्ट्र में उत्तर भारतीय मेहनतकशों के ख़िलाफ़ शुरू की गयी नयी मुहिम शासक वर्गों की 'बाँटो और राज करो' की राजनीति का ही नया खूनी खेल है। आने वाले लोकसभा चुनाव की बिसात पर शुरू हुआ यह खेल सभी चुनार्टियाँ मिलकर खेल रही हैं। राज ठाकरे और बाल ठाकरे ही नहीं, जो चुनावी पार्टियाँ उत्तर भारतीयों की हिमायत में खड़ी नज़र आ रही हैं वे भी इसी खेल का हिस्सा हैं। मेहनतकश अवाम को इन चुनावबाजों के बहकावे में आने के बजाय उपनी वर्गीय एकजुटता को मजबूत बनाते हुए देशी-विदेशी पूँजी की बर्बर लूट के खिलाफ क्रान्तिकारी संघर्षों की दिशा में आगे बढ़ना होगा।

राज ठाकरे की महाराष्ट्र नवनिर्माण सेना ने अपना राजनीतिक भविष्य सँवारने के लिए 'मराठी मानुष' के जिस मुद्दे को हवा दी है वह नया नहीं है। 1968 में शिवसेना के गठन के बाद बाल ठाकरे ने भी अपने राजनीतिक सफ़र की शुरुआत इसी मुद्दे से की थी। शिवसेना के गठन के अगले ही साल बाल ठाकरे ने 'लुंगी भगाओ, पुंगी बचाओ' का नारा दिया था। गैर मराठी मुम्बईवासियों के खिलाफ नफ़रत और उन्माद के जिस जहरीले दरख़्त को रोपकर बाल ठाकरे अब तक उसके फल का स्वाद चख रहे हैं उसी को राज ठाकरे नये सिरे से खाद-पानी दे रहे हैं। तीन साल पहले चाचा की पार्टी से नाता तोड़ने के बाद अपना राजनीतिक क़द बढ़ाने के लिए भतीजे ठाकरे को और दूसरी कोई राह सूझ भी नहीं सकती थी क्योंकि शिवसेना से उनका अलगाव किसी उसूली सवाल पर हुआ हीं नहीं था। मसला केवल यह था कि बाल ठाकरे पुत्र उद्धव ठाकरे को अपना राजनीतिक उत्तराधिकारी बनाना चाहते थे जो राज ठाकरे को गवारा नहीं हुआ।

अपनी मुहिम के ज़रिये राज ठाकरे द्वारा मराठी वोट-बैंक में ही सेंध मारने की कोशिश करता देख बालठाकरे-उद्धव ठाकरे ने भी अपना 'उदारतावादी' मुखौटा उतार फेंका। उद्धव ठाकरे ने राज ठाकरे से भी उग्र बयान दे डाला कि अगर हवाई अड्डा निर्माण की नई परियोजनाओं में उत्तर भारतीयों को काम पर लगाया गया तो वह उन्हें पार्सल से वापस भेज देंगे। बाल ठाकरे ने भी शिवसेना के मुखपत्र 'सामना' में कलम-कूची लेकर उत्तर भारतीयों के खिलाफ़ ज़हर बिखेरना शुरू कर दिया है। इस माहौल में इलेक्ट्रानिक मीडिया को भी नयी सनसनी मिल गयी और दिन-रात उसका चरखा चलने लगा। देखते-देखते राज ठाकरे का नाम देश के कोने-कोने में मशहूर हो गया। महाराष्ट्र की कांग्रेस-राष्ट्रवादी कांग्रेस की गठबन्धन सरकार द्वारा राज ठाकरे की गिरफ़्तारी और दो घण्टे के भीतर रिहाई के नाटक ने एक ओर राज ठाकरे का राजनीतिक क़द और बढ़ा दिया दूसरी और कांग्रेस पार्टी और शरद पवार का पाखण्ड भी पूरी तरह उजागर हो गया। अपने इस पाखण्ड पर पर्दा डालने के लिए कांग्रेसी न्यायपालिका की आड़ में चले गये, यह कहते हुए कि राज ठाकरे को गिरफ़्तार करके हमने अपना काम किया, न्यायपालिका पर हमारा क्या ज़ोर?

जब चुनावी बिसात पर यह नूरांकुश्ती चल रही हो तो भला कोई भी चुनावी पार्टी पीछे क्यों रहना चाहेगी? लालू प्रसाद-राबड़ी देवी, मुलायम सिंह यादव से लेकर मायावती तक सभी ने बयानों के गोले दागने शुरू कर दिये। सबके कार्यकर्ता सड़कों पर पुतला दहन करने निकल आये। उत्तर भारतीयों के ये सभी हिमायती महाराष्ट्र में अपना चुनावी आधार बढ़ाने के साथ ही अपनी पार्टियों को 'राष्ट्रीय' बनाने के लिए हाथ-पैर मार रहे हैं। समाजवादी पार्टी के अबू आज़मी महाराष्ट्र के उत्तर भारतीयों (खासकर मुसलमानों) के नये मसीहा बनने की क़वायदों में जुटे हैं। उधर प्रधानमंत्री की कुर्सी पर बैठने का सपना पाले बहन मायावती की महाराष्ट्र के दलित वोटों पर टिकी नज़र को भाँपते हुए बाल ठाकरे ने मायावती की तारीफ़ में भी कुछ क़सीदे पढ़ दिये।

इन तमाम चुनावी दाँव-घातों के बीच पुरबिया मेहनतकशों को राज ठाकरे के "सैनिक" सड़कों पर पीटते रहे और आतंकित करते रहे। खौफ़ के साये में अपनी रोज़ी-रोटी को छोड़कर काफ़ी संख्या में लोग अपने गाँव-देस लौटने के लिए मजबूर हो गये। नासिक और पुणे में खास तौर पर राज ठाकरे के उत्पाती दस्तों ने नंगनाच किया जहाँ से सबसे ज़्यादा संख्या में मज़दूर वापस लौटे।

राजठाकरे-बालठाकरे की तथाकथित 'मराठा गौरव' की बुनियाद पर टिकी राजनीति तथाकथित हिन्दुत्व के गौरव को बचाने में जुटी राजनीति की तरह ही एक फ़ासीवादी राजनीति है। हालाँकि चुनावी नफ़ा-नुकसान की होड़ में ये दोनों चेहरे कभी-कभी एक दूसरे के खिलाफ़ भी नज़र आते हैं। जैसे कि पूर्वी उत्तर प्रदेश में हिन्दुत्व के अलमबरदार योगी आदित्यनाथ उत्तर भारतीयों के

(पेज 6 पर जारी)

किसानों की क़र्ज़माफ़ी के पाखण्ड और शोरशराबे के बीच दबा पूँजीपतियों का बजट

विशेष संवाददाता

दिल्ली। चिदम्बरम द्वारा पेश आम बजट 20082009 में किसानों की क़र्ज़माफ़ी एक वाक़ये की बरबस ही याद दिला गयी। मदर टेरेसा की मृत्यु के कुछ ही दिनों बाद उनकी उत्तराधिकारी सिस्टर निर्मला ने एक इण्टरव्यू मे कहा था कि ग़रीबी ईश्वर का उपहार है। अगर गरीबी ख़त्म हो जायेगी तो फिर ग़रीबों की सेवा का सुअवसर कैसे मिलेगा? ग़रीबी और ग़रीबों के बारे में दुनिया की सभी पूँजीवादी सरकारों का यह सचेत फलसफा हो न हो, उनकी नीतियाँ गरीबी, भुखमरी, तबाही का मंजर तैयार करती हैं जिससे उन्हें उचित समय पर सन्तई का चोला पहनकर खैरात बाँटने का "सुअवसर" मिलता है।

चुनावी मौसम में यूपीए सरकार का आखिरी बज़ट पेश करते हुए चिदम्बरम के लिए माकूल मौका था कि वह अपने कारपोरेट प्रेमी चेहरे पर सन्तई का मुखौटा पहन लें। अगले लोकसभा चुनावों पर निशाना साधे सभी चुनावी खिलाड़ी 'किसान-किसान' खेल रहे थे। लेकिन चुनावी अखाड़े में सोनिया टीम के पहलवान चिदम्बरम ने ऐसा धोबियापाट मारा कि सारे विरोधी चित्त। देखते ही देखते सोनिया जी के दरवाजे पर किसानों का डागा-बाजा बजने लगा और विरोधी उस्ताद बगले झाँकने लगे। सोनिया पलटन की यह खुशी अब उन्हें किसानों की पीड़ा से ज़्यादा साल रही है।

आम बजट 2008-2009

पिछले साल बजट पेश करते हुए चिदम्बरम ने पब्लिक को खुश करने के लिए शाहरुख खान का डायलाग मारा था - 'मैं हूँ ना!' इसबार उन्होंने मध्य काल के तमिल सन्त तिरुवल्लूवर का चोला धारण कर दो हेक्टेअर जोत वाले किसानों के 31 दिसम्बर 2007 तक के सभी क़र्ज़ माफ़ कर दिये। फिर अगली ही साँस में उन्होंने कहा कि पुराने कर्ज़ों के छुटकारा पाने के बाद अब किसान नये सिरे से क़र्ज ले सकते हैं। बिल्कुल सिस्टर निर्मला वाली सन्तई! पहले खेती से मुनाफा कमाने का लालच पैदा करो। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के बीज, खाद, कीटनाशक खरीदने के लिए क़र्ज दो, मर्ज़ बढ़ाओ, जब मरीज़ मरने लगे तो पीड़ाहारी बाम दो। राहत महसूस करेगा तो वोट देगा। फिर क़र्ज लेगा, फिर मर्ज़ बढ़ेगा फिर बाम लगाने का मौका मिलेगा...। चिदम्बरम और कांग्रेस ही नहीं सभी चुनावी पार्टियों के किसान प्रेम का यही फलसफ़ा है। इसीलिए, चिदम्बरम के इस दाँव पर सभी चित्त नज़र आ रहे हैं।

इस क़र्ज़माफी से छोटे-मझोले किसानों की खेती पर आये संकट का कोई हल नहीं निकलने वाला। उनकी खेती पर आया यह संकट पूँजीवादी संकट है। बाज़र और मुनाफ़े की होड़ में छोटे-मझोले किसान बड़ी जोत वाले भूस्वामियों-फार्मरों-धनी किसानों के मुकाबले टिक ही नहीं सकते। वे लाख जतन करें, हिक़मत करें, बाज़ार की उठापटक में पछाड़ खाना उनकी नियति है। सरकार से मिली इस फौरी राहत के बाद फिर से उसी शैतानी चक्कर में वे घिर जायेंगे।

यह राहत भी दरअसल कितनी है? खुद सरकारी आँकड़े गवाह हैं कि छोटी जोत वाले ज़्यादातर किसान सरकारी बैंकों के बजाय निजी सूदखोरों से जयादा क़र्ज़ लेते हैं। आँकड़ों के अनुसार केवल 36 प्रतिशत किसान ही सरकारी बैंकों

(पेज 5 पर जारी)

आपस की बात

वह दिन ज़रूर आएगा...

हालात जब इंसान के दिमाग़ पर भारी पड़ने लगते हैं तो इंसान सुख-दुख को अपनी तकदीर समझ कर कमज़ोर महसूस करने लगता है, सच्चाई से मुँह फेर कर जीने लगता है। इस तरह करने से वह और भी कमज़ोर हो जाता है और दुनिया को समझने में और भी असमर्थ हो जाता है। जैसे आज मेहनतकश-मज़दूर मिलों, कारखानों में दिन-रात खटने के बाद भी जब अपने घर की रोज़मर्रा की ज़रूरतों को भी पूरा नहीं कर पाता तो वह अपनी किस्मत को ही दोष देता है। पर जब वह समाज के बाक़ी लोगों के जीवन की अपनी ज़िंदगी के साथ तुलना करके इस प्रश्न तक पहुँचता है कि ऐसा क्यों है तो सच्चाई एक-एक करके उसके सामने आने लगती है। जब वह देखता है कि उसकी मेहनत के हक़ लूटे जा रहे हैं तो हर तरफ़ उसे नज़र आता है अँधेरा, जिसमें उसे कहीं भी रोशनी की किरण नज़र नहीं आती। वह देखता है हर तरफ़ अपने खून-पसीने से तैयार की गयी इमारतें, बड़े-बड़े शापिंग सेंटरों में टंगे हुए खुद के तैयार किये कपड़े, खुद तैयार किये परिवहन के साधन लेकिन जिन्हें वह न खरीद सकता है न इस्तेमाल कर सकता है। काली दुनिया का सच उसके सामने आ जाता है कि अमीर दिन-रात मेहनत करने से नहीं बना जा सकता। मेहतनकश लोगों की लूट शुरू करके, उसके हक़ हजम करके ही अमीरी के महलों तक पहुँचने का रास्ता शुरू होता है और यह अमीरी की तरफ जाता रास्ता कभी भी समाप्त नहीं होता बल्कि बढ़ता ही जाता है। सच्चाई की सभी परतों तक पहुँच कर ही मेहनतकश मनुष्य खुद को इंसान समझता है क्योंकि उसने किसी का हक़ नहीं खाया। सच्चाई को जानने पर हर मज़दूर को लूट के खिलाफ़ संघर्ष शुरू कर देना चाहिए क्योंकि कब तक मज़दूर देता रहेगा मज़दूर को जन्म, आखिर कब तक जीते रहेंगे ऐसे ही? भूख को मिटाने के लिए चलो कभी न कभी तो आएगा वह समय जब मेहनतकश खुद की कमज़ोरी, किस्मत, तक़दीर को नहीं कोसेगा। उस दिन दुनिया के सारे राज उसके सामने होंगे जिन्हें समझने में वह आज तो असमर्थ है।

–परमिंदर
लुधियाना

मजदूरों को हर जगह लूटा जाता है

पिछले दिनों खबर आयी कि मजदूरों की कमी से जूझ सकता है पंजाब। इसमें मीडिया ने चटपटी दिलचस्पी ली। बताया गया कि पहले की अपेक्षा अब प्रवासी मजदूरों का आना कम हो रहा है। इस विषय में सीटू के प्रधान जतिंदर पाल कहते हैं कि अन्य राज्यों में यहाँ की तुलना में इन कर्मियों को ज़्यादा पैसे मिलते हैं। उनका मानना है कि यही कारण है कि यहाँ से मज़दूर पलायन कर रहे हैं। लेकिन इन्होंने यह सच्चाई नहीं बताई कि पंजाब (लुधियाना) में मजदूरों को 2006 से अभी तक कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है जबकि आंकड़े इसके गवाह हैं।

पंजाब सरकार का एक नियम आया कि प्रवासी मजदूरों का पहचान पत्र बनाया जाये। इसका कारण बताया गया कि प्रवासी मज़दूर कत्ल, बलात्कार, चोरी, डकैती आदि करके आते हैं और पंजाब में छिप जाते हैं। अगर इसके लिए कार्ड ज़रूरी था तो यह कार्ड मुफ़्त बनाया जाना चाहिए था। लेकिन इसके लिए हर एक से 50 रुपया लिया गया। लेकिन यह नहीं बताया गया कि पंजाब सरकार का खजाना खाली था। इसे मजदूरों का खून चूस कर भरने का नुस्खा तैयार किया गया। ये हर तरफ से हारकर मजदूरों पर टूट पड़े। इसका सबसे ज़्यादा नाजायज फायदा उठाते हैं पंजाब स्टेट के ट्रैफिक पुलिस, पीसीआर और रेलवे। जहाँ कहीं जाओ रेलवे स्टेशन, चौराहे, 'कारवाई कार्ड' दिखाने की माँग होती है।

अगर कार्ड है तो अच्छी बात है नहीं तो 200 रुपये निकालो। इस तरह कानून के रक्षक मजदूर के ऊपर भक्षक बनकर टूट पड़े और अपनी जेब चांदी करने लगे। पंजाब में सबसे ज़्यादा शोषण मालिकों द्वारा होता है। इसके बाद बेहड़ों के मालिक आते हैं जो एक ही रूम के अंदर चार-चार पांच-पांच जनों को रहने पर मजबूर कर देते हैं जबकि उसमें कायदे से एक ही आदमी रह सकता है। बाकी जो कसर बचती है उसको ट्रैफिक पुलिस, पीसीआर, रेलवे पूरी कर देती है। रेलवे कर्मचारी चाहे टिकट बाबू हो, टीटी हो, पुलिस हो या कोई और इनके द्वारा शोषण के बारे में हर मजदूर को मालूम है। टिकट बाबू पैसे लेकर कुर्सी के नीचे गिरा देते हैं, और कहते हैं कि तुमने सौ रुपये कम ही दिया है, टीटी कहते हैं तू जा किस रूट से रहा है? वहीं रेलवे पुलिस मजदूरों से ट्रेन के अंदर पैसे ऐंठते हैं। अगर किसी ने देने से आनाकानी की तो मारते भी हैं। कई बार नौबत आती है कि ट्रेन से भी फेंक देते है। असम, दिल्ली या मुंबई हो या कोई और शहर अपना पेट भरने के लिए दो वक्त की रोटी के लिए 1100-1200 किलोमीटर दूर चलकर आते हर मजदूर की हर जगह यही हालत है।

हमारी तमाम मजदूर साथियों से अपील है कि चाहे कोई भी राजनीतिक पार्टी, नेता या धर्म का ठेकेदार हो ये हमारी आजादी नहीं दिला सकते बल्कि ये लोगों को धर्म, देश, भाषा के नाम पर बाँट कर रखना चाहते हैं। इन लुटेरों से हम लोगों को कोई उम्मीद नहीं रखनी चाहिए। अगर हम लोगों को इस शोषण-अन्याय से मुक्त होना है तो भगतसिंह के बारे में, उनके विचारों के बारे में जानना होगा और एक नई क्रान्ति की नींव डालनी होगी। आइये हम सब मजदूर साथी मिलकर संकल्प लें और भगतसिंह के सपनों को साकार बनायें। इंक़लाब जिंदाबाद!

–नरेन्द्र कुमार गुप्ता,
बिगुल मजदूर दस्ता और
नौजवान भारत सभा
के कार्यकर्ता

बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और जिम्मेदारियाँ

1. 'बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफवाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर (कम्युनिस्टों) और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाजों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

राहुल फाउण्डेशन से प्रकाशित कुछ नयी पुस्तकें

क्रान्तिकारियों के दस्तावेज़
भगतसिंह और उनके साथियों के सम्पूर्ण उपलब्ध दस्तावेज़ –स. सत्यम 190.00
दायित्वबोध पुस्तिका श्रृंखला
भारतीय कृषि में पूँजीवाद का विकास –सुखविन्दर 30.00
आह्वान पुस्तिका श्रृंखला
आरक्षण : पक्ष-विपक्ष और तीसरा पक्ष 10.00
आतंकवाद के बारे में विभ्रम और यथार्थ 10.00
क्रान्तिकारी छात्र-युवा आन्दोलन 15.00
बिगुल पुस्तिका श्रृंखला
जंगलनामा : एक राजनीतिक समीक्षा –डॉ. दर्शन खेड़ी 5.00
लाभकारी मूल्य, लागत मूल्य, मध्यम किसान और छोटे पैमाने के माल उत्पादन के बारे में मार्क्सवादी दृष्टिकोण : एक बहस 30.00
संशोधनवाद के बारे में 5.00
शिकागो के शहीद मज़दूर नेताओं की कहानी –हावर्ड फास्ट 10.00
मज़दूर नायक, क्रान्तिकारी योद्धा 10.00
मार्क्सवाद
कम्युनिस्ट घोषणापत्र(व्याख्यात्मक टिप्पणियों के साथ) –डी. रियाजानोव 100.00
धर्म के बारे में –मार्क्स, एंगेल्स 100.00
मार्क्सवाद की मूल समस्याएँ –जी. प्लेखानोव 30.00
द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद –डेविड गेस्ट 25.00
अक्टूबर क्रान्ति और लेनिन –अल्बर्ट रीस विलियम्स 90.00
ज्वलन्त प्रश्न
'जाति' प्रश्न के समाधान के लिए बुद्ध काफ़ी नहीं, अम्बेडकर भी काफ़ी नहीं, मार्क्स ज़रूरी हैं –रंगनायकम्मा 125.00

दंगे-फसाद और क्षेत्रीय झगड़ों की आग में पूरे देश को जलने से बचाओ!
वोट की राजनीति करने वाले, पूँजीपतियों के टट्टू राजनीतिज्ञों की असलियत पहचानो!!
फासिस्ट जुनून में बहने से बचो!!!
पूँजीवादी चुनावी राजनीति के क्रान्तिकारी विकल्प का निर्माण करो!

नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय : **69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006**
सम्पादकीय उपकार्यालय : **जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ**
दिल्ली सम्पर्क : **बी-108, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-94 फ़ोन : 011-65976788**
ईमेल : bigul@rediffmail.com

मूल्य : एक प्रति–रु. 3.00 वार्षिक–रु. 40.00 (डाक खर्च सहित)

बिगुल

'जनचेतना' की सभी शाखाओं पर उपलब्ध :
1. डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
2. जनचेतना स्टाल, काफ़ी हाउस बिल्डिंग, हजरतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे तक)
3. जाफरा बाजार, गोरखपुर-273001
4. 16/6, वाद्यम्बरी हाउसिंग स्कीम अल्लापुर, इलाहाबाद
5. जनचेतना सचल स्टाल (ठेला) चौड़ा मोड़, नोएडा (शाम 5 से 8)

मेहनतकश साथियों के लिए ज़रूरी कुछ पुस्तकें

कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन और उसका ढांचा –लेनिन	5/-	क्यों माओवाद?	10/-
मकड़ा और मक्खी –विल्हेल्म लीब्कनेख्त	3/-	मई दिवस का इतिहास	5/-
ट्रेड यूनियन काम के जनवादी तरीके –सर्जी रोस्तोवस्की	3/-	अक्टूबर क्रान्ति की मशाल	12/-
अनवश्वर है सर्वहारा संघर्षों की अग्निशिखाएँ	10/-	पेरिस कम्यून की अमर कहानी	10/-
समाजवाद की समस्याएँ, पूँजीवादी पुनर्स्थापना और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति	12/-	पार्टी कार्य के बारे में	15/-
		जनता के बीच पार्टी का काम	30/-

बिगुल विक्रेता साथी से माँगें या इस पते पर 17/- रजिस्ट्री शुल्क जोड़कर मनीआर्डर भेजें : **जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ**

चीन में बढ़ता प्रदूषण

पूँजीवाद की तबाही ही पर्यावरण रक्षा है!

आज हर इन्सान पर्यावरण प्रदूषण की स्थिति बदतर होते जाने से चिन्तित है लेकिन वह इसके मूल कारणों तक नहीं पहुँच पा रहा है। मूल कारणों से ध्यान भटकाने के लिए शासक वर्ग पर्यावरण प्रदूषण के बारे में तरह-तरह के भ्रम लगातार फैलाता रहता है–जैसे कि बढ़ती आबादी या बढ़ते हुए उद्योग इत्यादि। आख़िरकार असलियत क्या है?

असलियत यह है कि पूँजीवाद में मुनाफ़े को केन्द्र में रखकर उत्पादन किया जाता है। एक ओर उत्पादन के साधनों पर निजी मालिकाना और दूसरी ओर उत्पादन का सामूहिकीकरण होता है। इसके चलते जब उत्पादन होता है तो ऐसे उत्पादन की माँग एक पड़ाव पर जाकर गतिरोध का शिकार होती है, तब पूँजी एक नये बाज़ार की तरफ़ झपटती है। जैसे कपड़ा उद्योग के बाद जूता उद्योग और इसके बाद रसायन इण्डस्ट्री में निवेश करना ताकि पूँजीवाद की रगों में ख़ून के माफ़िक दौड़ती पूँजी सर्कुलेशन में रहे, अगर वह रुकी तो पूँजीवाद को वहीं 'हार्ट अटैक' हो जायेगा। इसीलिए पूँजी हर वक़्त नई मण्डी की तलाश में रहती है या फिर ख़ुद नई मण्डी बनाती है। नये बाज़ार ख़ुद तैयार करने का मतलब यह है कि ऐसी चीज़ों का उत्पादन करना जिसकी किसी को कोई ज़रूरत नहीं होती, न ही मानवता को कोई फायदा दिखायी पड़ता है, उलटा नुक़सान ही नुक़सान उठाना पड़ता है। अगर हम कोक, पेप्सी या फैण्टा जैसे पेय पदार्थों का उदाहरण लें तो मामला एकदम साफ़ समझ में आ जायेगा। इन्सानी शरीर के लिए एकदम ख़तरनाक पदार्थ का उत्पादन महज़ इसलिए किया जाता है ताकि मुट्ठीभर कुछ लोग ढेरों मुनाफ़ा बटोर सकें। ये सभी चीज़ें बुरी तरह प्रदूषित होती हैं। कोक, पेप्सी उत्पादों में कीटनाशकों की पर्याप्त मात्रा होती है, लेकिन फिर भी सब धड़ल्ले से बेचा जा रहा है।यही हाल और उद्योगों में भी है।

एक रिपोर्ट के मुताबिक़ चीन में 2006 में वहाँ की ऑटो इण्डस्ट्री जिस रफ़्तार से उत्पादन कर रही थी, अगर वह जारी रही तो 2010 में वह दोगुना उत्पादन करने लगेगी। इसी एक आँकड़े से हम चीन में पर्यावरण प्रदूषण का अन्दाज़ा लगा सकते हैं। वाहनों की अधिकता के चलते चीन में यह हाल है कि 27 दिसम्बर 2007 को चीन के औद्योगिक शहर बीजिंग के प्रशासन ने वहाँ के नागरिकों को 29 दिसम्बर तक घरों से बाहर न निकलने की सलाह दी क्योंकि बीजिंग में प्रदूषण अपनी सभी सीमाएँ पार कर चुका था। हालात इतने बदतर थे कि आसमान का रंग नीला नहीं बल्कि धूसर (ग्रे) दिखायी पड़ता था। साल 2007 में चीन में 365 में से 245 दिन नीले आसमान के दिन थे यानी बाकी के दिन आसमान प्रदूषण के कारण धूसर दिखायी पड़ता था। यह हालत भी साल 2007 में सुधरी है, उससे पहले नीले आसमान के दिन और भी कम थे। ऐसे में चीनी प्रशासन भी प्रदूषण हटाने के नाम पर कुछ कवायद करता हुआ दिखायी पड़ रहा है। पर फिर वही प्रशासन थका-माँदा कुत्ता आसन करता दिखायी पड़ता है, जब 1 करोड़ 20 लाख की आबादी वाले बीजिंग में हर दिन औसतन 1200 नये ट्रक और कारें जमा होती हैं। चार लाख नयी कारें और ट्रक हर साल एक शहर में!

वैज्ञानिकों का कहना है कि अगर शहर के आस-पास के कारख़ाने जल्द से जल्द हटाये न गये तो शहर इस क़ाबिल नहीं रह जायेगा कि फिर कभी अपने-आपको साफ़ कर पाये। इन्हीं हालात में बीजिंग में ओलम्पिक खेल भी खेले जायेंगे, लेकिन ओलम्पिक खेल विशेषज्ञ शहर के वातावरण से बुरी तरह ख़ौफ़ज़दा हैं। 5 अगस्त 2007 को बीजिंग के खेल मैदानों में बारीक कणों का प्रदूषण (फ़ाइन पार्टिकल पोल्यूशन–पीएम-10) 200 तक मापा गया जो सुरक्षा सीमा से चार गुना ऊपर है। 1998 में बीजिंग ने नीले आसमान के सिर्फ़ 100 दिन देखे, लेकिन साफ़ कोयला इस्तेमाल करने से इसका कुछ समाधान 2001 तक हो पाया, जब महज़ 25 फ़ीसदी सल्फ़र डाइऑक्साइड कम हुई। लेकिन बीजिंग की असली समस्या पीएम-10 के प्रदूषण की है जो कारख़ानों, निर्माण-कार्यों, और कारों और ट्रकों के कारण होता है और दिन दोगुनी रात चौगुनी की रफ़्तार के साथ बढ़ता ही जा रहा है। हालत यह है कि गैसमास्क के बिना बीजिंग में घूमना ख़तरे से ख़ाली नहीं।

ऐसा ही हाल अमेरिका के न्यूयॉर्क, कैलिफ़ोर्निया जैसे शहरों का है, जहाँ रहना, डब्ल्यूएचओ भी, इन्सानी जीवन के लिए ख़तरा मानती है। इस सबके कारण धरती का तापमान भी प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है और बर्फ़ के ऐसे-ऐसे ग्लेशियर जो पिछले हज़ारों सालों में कभी नहीं पिघले, अब पिघलने शुरू हो चुके हैं।

इतना ही नहीं हद से ज़्यादा कैमिकल छिड़कने से फ़सल के साथ-साथ मिट्टी भी प्रदूषित हो रही है और अपना उपजाऊपन खो रही है। हालाँकि नये वैज्ञानिक शोध बिना कीटनाशकों के खेती करने की बात भी करते हैं, पर ऐसे शोधों को बड़ी कीटनाशक कम्पनियों द्वारा पहले ही पेटेण्ट करवा लिया जाता है।

यह तो है चीन की आज की तस्वीर, लेकिन चीन हमेशा से ऐसा नहीं रहा है। 1949 के बाद 1976 तक समाजवादी दौर में चीन में प्रदूषण का मुक़ाबला बहुत ही कारगर ढंग से किया गया था। माओकालीन चीन इतिहास का एक सुनहरा युग था। क्रान्ति के बाद चीन में तेज़ी से उद्योगों का निर्माण किया गया, लेकिन साथ ही साथ उसके ज़हरीले कूड़े की तरफ़ भी ध्यान दिया गया। रासायनिक कीटनाशकों को इतना कम किया गया कि वे नाममात्र रह गये। इसके विकल्प खोजे गये जैसे फ़सलों को खाने वाले कीड़ों को ख़त्म करने के लिए परजीवी मधुमक्खियों को खोजना। ऐसे और भी कई उदाहरण हैं। जैसे 1960 में त्सित्सिहार दस लाख जनसंख्या वाला शहर था, वहाँ ननचिआङ नदी से प्राप्त होने वाली मछली पूरे प्रान्त के उत्पादन के आध ो के बराबर थी। लेकिन फिर नदी में मछलियों की संख्या काफ़ी कम होने लगी। कारण था उद्योग प्रतिदिन रसायनों से युक्त 250,000 टन दूषित पदार्थ नदी में फेंक देते थे, जिससे मछलियाँ मर रही थीं। कम्युनिस्ट पार्टी ने लोगों की सहायता से कार्रवाई कर कारख़ानों का दूषित पानी नदी में फेंकना तुरन्त बन्द करवा दिया तथा रसायनों से युक्त गन्दा पानी अब जलाशयों में इकट्ठा कर सफ़ाई के बाद सिंचाई के काम आने लगा। त्सित्सिहार शुगर रिफ़ाइनरी में अवशिष्ट पदार्थों से प्रतिवर्ष 1,400 टन कम लागत का बढ़िया सीमेण्ट पैदा किया जाता था। जले हुए कोयले से हर वर्ष 20 लाख ईंटें तैयार की जाती थीं जिनका इस्तेमाल नयी शॉप को तैयार करने में किया जाता था। ये शॉप गन्ने की जड़ों से अल्कोहलिक स्पिरिट तैयार करती थी, रद्दी शहद से प्रतिदिन 2 टन डिस्टिल्ड अल्कोहल तैयार किया जाता था और एक पेपरमिल के निकट के गड्ढे से प्रतिवर्ष लगभग 150 टन लुगदी इकट्ठा कर उनसे पैकेजिंग पेपर बनाया जाता था।

जून 1970 में लोगों ने गन्दे पानी की सिंचाई की एक परियोजना में काम किया। प्रतिदिन 5000 से अधिक लोग कार्यस्थल पर आते थे और उन्होंने छह महीने में एक विशाल जलाशय और बाँध खड़ा कर दिया। माओकालीन चीन में जब भी कोई नयी परियोजना बनती तो ये उसके दिशानिर्देश होते थे :

1. जनता की भलाई प्रस्थान बिन्दु होना चाहिए।

2. भावी पीढ़ियों के हितों को ध यान में रखना चाहिए–समस्या का दूरगामी समाधान निकलना चाहिए, न कि सिर्फ़ फ़ौरी समाधान।

3. समस्या पर सभी पहलुओं से विचार करना चाहिए ताकि एक आपदा को दूर करने से कोई दूसरी आपदा न पैदा हो जाये।

अब अगर कोई नयी परियोजना तैयार करते वक़्त पूँजीवाद के दिशानिर्देश देखे जायें तो वे कुछ ऐसे होंगे :

1. पूँजीपति का मुनाफ़ा प्रस्थान बिन्दु होना चाहिए।

2. भावी पीढ़ी तो क्या वर्तमान पीढ़ी को भी गोली मारो–समस्या का तात्कालिक समाधान हो, भविष्य किसने देखा है।

3. यह आपदा किसी तरह से टल जाये दूसरी खड़ी हुई तो कुछ न कुछ चिप्पी-पैबन्द लगा ही देंगे।

1971 में शंघाई इलेक्ट्रोकेमिकल वर्क्स से निकलने वाला द्रव कचरा और ठोस अवशिष्ट पदार्थ जैसे सल्फ़्यूरिक अम्ल और कैल्शियम सल्फ़ेट नदियों को प्रदूषित कर रहे थे और आसपास की फ़सलों को क्षति पहुँचा रहे थे। इस पर कारख़ाने के 2300 मज़दूरों द्वारा साझी कार्रवाई की गयी। तीन महीनों के अन्दर-अन्दर 10,000 युवान ख़र्च करके यह खोज लिया गया कि 'कैसे किसी बुरी चीज़ को एक अच्छी चीज़ में बदला जा सकता है।' प्रतिमाह पैदा होने वाले 92,000 घनमीटर रद्दी गैस से 85 प्रतिशत का पुनःसंस्करण किया जाने लगा, प्रतिमाह पैदा होने वाले 29,000 टन द्रव कचरे के 75 प्रतिशत का भी पुनःसंस्करण होने लगा और 1972 में कारख़ाने ने 3000 टन नये कच्चे रासायनिक मालों को फिर से हासिल कर लिया। ऐसा नहीं है कि माओकालीन चीन में कोई जादू की छड़ी थी जो कचरे से सिर्फ़ मुनाफ़ा अर्जित करती थी। इसी कारख़ाने में संयन्त्र से पैदा होने वाला हाइड्रोफ़्लोरिक अम्ल और धुआँ बेहद ज़हरीला होता था। लेकिन शोधों से यह पता चला कि गैस को क्रायोलाइट नामक एक सोडियम अल्युमीनियम फ़्लोराइड में तब्दील किया जा सकता है। ऐसा करने पर औसत लागत 4,000 युवान प्रति टन आती थी। लेकिन क्रायोलाइट का बाज़ार मूल्य सिर्फ़ 1,400 युवान प्रति टन था। यानी प्रति टन 2,600 युवान की अतिरिक्त क़ीमत उठानी पड़ती। 1972 में कारख़ाने को 39 टन क्रायोलाइट पैदा करने के लिए 100,000 युवान का घाटा उठाना पड़ा। यह किसानों को क्षतिग्रस्त फ़सलों को दिये जाने वाले मुआवज़ों से दस गुना अधिक था। पर इसमें घाटा नहीं देखा गया बल्कि पर्यावरण की सुरक्षा देखी गयी और यह सब सिर्फ़ इसी कारण से कि 'मुनाफ़ा' केन्द्र में नहीं था। तब केन्द्र में था 'इन्सान' और 'इन्सानियत'।

कई और उदाहरण हैं जिनमें कि कचरे को फिर से इस्तेमाल में लाया गया। जैसे एक सूती मिल में कपास के बीजों के खोल को पहले जला देते थे, लेकिन बाद में उसकी प्रोसेसिंग करके मज़दूरों ने फरफ़्यूरल्न नामक एक कार्बनिक यौगिक बनाया और फरफ़्यूरल्न के उत्पादन के दौरान बचे अवशिष्ट पदार्थ से ग्लूकोज बनाया जा सकता है और ग्लूकोज बनाने के दौरान बचे अवशिष्ट पदार्थ से ग्लिसरीन, अल्कोहल और कृत्रिम सुगन्ध बनाये जा सकते हैं।

पूँजीवादी समाज में लोगों को पर्यावरण प्रदूषण के बारे में जानकारी देना ज़रूरी नहीं होता, क्योंकि ऐसा करना पूँजीपतियों के हित में नहीं होता। लेकिन समाजवाद में लोग पहले स्थान पर होते हैं और मुनाफ़ा दूसरे स्थान पर होता है।

विश्व सर्वहारा के महान शिक्षक और नेता कार्ल मार्क्स ने कहा था कि पूँजीवाद अपनी प्रकृति से ही प्रकृति का विरोधी है। जैसे-जैसे पूँजीवाद अतिउत्पादन के संकट में फँसता जाता है और पूँजीनिवेश निःशेष होता जाता है वैसे ही यह और ज्यादा प्रकृति विरोधी स्वभाव अख़्तियार करता जाता है।पूँजीवाद में बढ़ता प्रदूषण बढ़ते अति-उत्पादन की ही एक अभिव्यक्ति है। पूँजीवादी समाज में इस विचार को प्रोत्साहन दिया जाता है कि लोग ही समस्या हैं, जबकि क्रान्तिकारी चीन में लोग सर्वाधिक मूल्यवान संसाधन समझे जाते थे। केवल एक समाजवादी अर्थव्यवस्था में ही, जहाँ मुनाफ़ा केन्द्र में नहीं होता, औद्योगिक कूड़े-कचरे की समस्या से निपटा जा सकता है और केवल एक समाजवादी समाज में ही, जो जनता के हितों के लिए संचालित होता है, न कि बड़े पूँजीपतियों के हितों के लिए, प्रदूषण विरोधी कामों को अमल में लाया जा सकता है और ऐसी कारगर नीतियाँ तैयार की जा सकती हैं, भले ही इन नीतियों से कोई मुनाफ़ा अर्जित न होता हो। हर नेक दिल इन्सान को उपभोगता संस्कृति से लबरेज़ पूँजीवाद से पर्यावरण की रक्षा की आशा छोड़ देनी होगी और समाजवाद की तरफ़ क़दम बढ़ाना होगा। एक ऐसे समाज के लिए लड़ने के लिए कमर कसनी होगी जिसमें उत्पादन के साधनों पर से निजी स्वामित्व ख़त्म कर सामूहिक स्वामित्व लागू किया जाये।

–अजय पाल

साढ़े चार लाख का 'जाबा' मजदूरों का मुँह बन्द नहीं कर सकता

बिगुल संवाददाता

नोएडा। नोएडा की फैक्टरियाँ मजदूरों के लिए साक्षात कब्रगाह बनी हुई हैं। आए दिन यहाँ मौतें होती रहती हैं। बिना किसी सुरक्षा उपकरण के अपनी जान हथेली पर रखकर काम करने वाले मजदूर, किसी न किसी दुर्घटना के शिकार हो ही जाते हैं या उनका कोई अंग भंग हो जाता है। कोई दीवार ढहने से दब जाता है, कोई करंट लगने से मर जाता है या किसी मशीन की चपेट में आ जाता है और अपनी जान गवाँ बैठता है। लेकिन सिस्टम इतना 'बढ़िया' है कि उनके खून की एक-एक बूँद सिक्के के रूप में ढलती रहती है।

मालूम हो कि ए-52, सेक्टर-58 स्थित खन्ना इण्डस्ट्री प्रा0लि0 में अजय चौहान नाम के एक मजदूर की ड्रिल मशीन में फँसकर दर्दनाक तरीके से मौत हो गयी। अजय चौहान मेरठ जिले के राली चौहान गाँव का निवासी था और बतौर फिटर इस कम्पनी में काम करता था। मंगलवार दिनांक 15.01.2008 को अजय चौहान रात 11:30 बजे ड्रिल मशीन पर काम कर रहा था। अचानक उसका स्वेटर मशीन में फंस गया और मशीन ने कई चक्कर पटक-पटक कर उसकी जान ले ली। मशीन सुरक्षा मानकों के तहत नहीं लगायी गयी है, और न ही सुरक्षा के कोई उपकरण मुहैया हैं। मालिक अपनी मनमर्जी चलाता है। चाहे किसी की जान जाए या किसी का हाथ टूटे, उसे सिर्फ़ अपने मुनाफ़े से मतलब है।

मजदूरों ने इस संवाददाता को बताया कि इसके पहले भी पिछले साल 2007 में वीर पाल नाम के मजदूर की मौत हो चुकी है और जनवरी 2007 में सुशील नाम का मजदूर अपने दाहिने पैर की तीन अंगुलियाँ गँवा चुका है।

अजय चौहान की मौत के बाद गुस्साए मजदूर सारा काम-धाम ठप करके बाहर आ गए और मौके पर पहुँची पुलिस से मालिक पर हत्या का मुक़दमा दर्ज करने की माँग करने लगे। पुलिस ने तुरंत अपनी पक्षधरता दिखायी और अजय के परिवार वालों के पहुंचने से पहले ही दुर्घटना का मामला दर्ज कर लाश का पोस्टमार्टम कर दिया। इस पर मजदूरों ने जम कर विरोध किया। मजदूरों को शान्त कराने के लिए कंपनी के मालिक रमन खन्ना ने मृतक के परिवार को साढ़े चार लाख का चेक देकर उनके मुँह पर जाबा लगाने का काम किया और काम पुनः चालू करवा लिया।

फिलहाल मालिक की यह तरकीब काम कर गयी और मजदूर चुप हो गए। लेकिन इतना तय है कि मालिकानों द्वारा मजदूरों के मुँह पर लगाया जा रहा यह तरह-तरह का जाबा बहुत दिनों तक उनकी आवाज़ को बन्द नहीं रख सकता।

नोएडा एक्सपोर्ट गारमेन्ट का जंगल राज

बिगुल संवाददाता

उदारीकरण के इस दौर में समूचा देश देशी-विदेशी पूँजी की लूट का खुला चरागाह बना हुआ है। ऐसे में लूट और शोषण-उत्पीड़न के किसी भी विरोध पर लाठियाँ भाँजने की जो छूट यह व्यवस्था पुलिस-फौज को देती है, उससे ज्यादा छूट पूंजीपति अपने पालतू गुण्डों को देता है। उन्हीं के दम पर वह एक आन्तरिक सत्ता चलाता है जो ऊपरी चमक-दमक के कारण प्रत्यक्षतः नहीं दिखती लेकिन एड़ी से चोटी तक पसीना एक करके अपनी रोजी-रोटी कमाने वाले मजदूरों का रोज इससे साबका पड़ता है।

यहाँ ए-5, सेक्टर-64 स्थिति 'बी0एल0 इण्टरनेशनलद्व मैनेजमेन्ट के गुण्डों ने एक दिन काम पर न आने के कारण दो मजदूरों के साथ मारपीट कर जबरन कई कोरे फार्मों और कोरे कागजों पर दस्तखत और अंगूठे के निशान लगवाकर, बाहर का रास्ता दिखाकर कुछ ऐसा ही उदाहरण प्रस्तुत किया।

ज्ञात हो कि बी0एल0 इण्टरनेशनल एक एक्सपोर्ट कम्पनी है जो छोटी-छोटी बात पर मजदूरों के साथ मारपीट कर उन्हें बाहर का रास्ता दिखा देने के लिए पूरे नोएडा के मजदूरों में विख्यात है। 28 जनवरी 2008 को 9 महीने से भी ज्यादा समय से काम कर रहे दो सिलाई कारीगर गजेन्द्र सिंह और कल्याण सिंह को यह कहकर बाहर निकाला जाने लगा कि तुम लोग काम पर नहीं आये थे। इन दोनों मजदूरों द्वारा इस बात का विरोध करने पर मैनेजमेंट के गुण्डों ने उनके साथ मारपीट की और कई कोरे फार्मों और कोरे कागजों पर दस्तखत व अंगूठे के निशान लगावाकर सिर्फ महीने भर की सेलरी देकर उन्हें बाहर निकाल दिया। साथ-साथ यह धमकी भी दे दी कि कभी इस कम्पनी का रुख किया तो जान से मार डालेंगे।

इस घटना के अगले दिन उन दोनों मजदूरों ने 'बिगुल मजदूर दस्ता' के साथियों से सम्पर्क किया और पूरी घटना पर विस्तार से चर्चा की। इसके बाद उन्होंने उप श्रमायुक्त कार्यालय में फरियाद के लिए लिखित रूप से दरखास्त दी। उक्त मामले का संज्ञान लेते हुए उप श्रमायुक्त महोदया ने लेबर इंस्पेक्टर श्री जय सिंह को जांच हेतु केस सौंप दिया। लेबर इंस्पेक्टर ने 30 जनवरी 2008 को कल्याण सिंह और गजेन्द्र सिंह को तीन बजे कम्पनी पर उपस्थित होने के लिए कहा था।

इस बीच बिगुल मजदूर दस्ता ने मजदूरों का आह्वान करते हुए एक पर्चा निकाला था। उस पर्चे का शीर्षक था, "बस करो! अब और नहीं सहेंगे!!" इस पर्चे में उस घटना का हवाला देते हुए कहा गया था कि मजदूरों के लिए जरूरी है एक सच्चा क्रांतिकारी संगठन, जो उन्हें दुअन्नी-चवन्नी की लड़ाई में उलझाने की बजाय सत्ता अपने हाथ में लेने की राह बताता हो, इसके लिए मजदूरों को स्वयं प्रयास करने होंगे। क्योंकि चुनावबाज नेता या दलाल, ट्रेड यूनियनें फैक्ट्री मालिकान के टट्टू हैं, जो अपनी लीद से मजदूरों का दिमाग खराब करने का काम करते हैं।

ज्ञात हो कि 30 जनवरी 2008 को ही बिगुल मजदूर दस्ता द्वारा मजदूरों में व्यापक पर्चा वितरण किया जा रहा था। बिगुल मजदूर दस्ता के साथी जनार्दन, कल्याण सिंह, गजेन्द्र सिंह और कुछ अन्य मजदूर साथियों के साथ सेक्टर 63, 64, 65 में पर्चा वितरण कर रहे थे। उस समय मजदूरों का लंच आवर चल रहा था और कुछ देर बाद लेबर इंस्पेक्टर के साथ वार्ता होनी थी। सेक्टर 64 के पार्क में पर्चे वितरण के दौरान करीब 1:30 बजे जब लगभग सारे मजदूर लंच करके पुनः काम पर वापस जा चुके थे, उसी समय बी0एल0 इण्टरनेशनल के करीब 10-12 गुण्डे पार्क में आ धमके। आते ही उन्होंने गाली-गलौज और मारपीट शुरू कर दी और उन्हें जबरदस्ती पार्क से घसीट कर फैक्ट्री गेट के अन्दर बन्द कर दिया।

मैनेजमेन्ट का कहना था इन पर्चों से अशान्ति फैल जाएगी और कहीं मजदूर भडक गए तो क्या होगा। मजदूरों में व्याप्त आक्रोश से मैनेजमेन्ट कितना भयाक्रांत है वह इसी बात से पता चलता है कि उन्होंने सभी तलाशी ली और जनार्दन के बैग से सारे पर्चे, बिगुल अखबार की एक प्रति तथा अन्य पर्चे जो मजदूरों की समस्याओं को लेकर समय-ब-समय बिगुल मजदूर दस्ता द्वारा निकाले जाते रहे हैं, सब निकाल लिये। बारी-बारी से और फिर एक साथ सबका फोटो खींचा तथा कोरे कागज पर यह लिखवाने की कोशिश भी की कि, "मैं दोबारा कभी इस प्रकार की कोई जन कार्रवाई नहीं करूंगा।" लेकिन वे इसमें सफल नहीं हो सके।

इसके बाद उसमें से अपने को कम्पनी का मालिक बताने वाले व्यक्ति ने पुलिस को फोन किया। सूचना मिलते ही पुलिस सेवा में हाजिर हो गयी और मालिक का पक्ष लेते हुए गालियों से घटना की रिपोर्टिंग लेने की शुरुआत की।

अबतक सेक्टर-58 थाने पर कुछ पत्रकारों का दबाव बनना शुरू हो गया था। उसके बाद पुलिस ने उन साथियों को छोड़ा। उसके बाद बिगुल मजदूर दस्ता के साथी जनार्दन, गजेन्द्र सिंह और कल्याण सिंह ने बी.एल. इण्टरनेशनल के मैनेजमेन्ट के इए बर्बर कृत्य के खिलाफ सेक्टर-58 थाने में लिखित रूप से तहरीर दी। रिपोर्ट लिखे जाने तक कोई कार्यवाही नहीं हुई है।

नई आशाएँ पैदा कर गई बहरीन में निर्माण मजदूरों की हड़ताल

बिगुल संवाददाता

लुधियाना। जीवन व्यतीत करने के लिए बेहतर स्रोत-संसाधनों की तलाश में इंसान युगों से प्रवास करता आया है। इंसान ने कई नये भूभाग खोजे जीवन की जरूरतें पूरी करने के लिए अनेक नए पदार्थ खोजे और संसाधन जुटाए। इस तरह प्रवास को अपनी बेहतरी और सामाजिक विकास के हित में इस्तेमाल किया। पहले मनुष्य कुदरती आफतों से बचने के लिए या जीने के बेहतर हालत के लिए प्रवास करता था लेकिन निजी संपत्ति की मार के चलते वर्गीय समाजों में उसके प्रवास का मुख्य पहलू शोषक वर्गों द्वारा उत्पीड़न और शोषण ही रहा। गुलाम समाजों में गुलाम मालिकों द्वारा गुलामों की खरीद-फरोख्त से प्रवास होता रहा तो जगीरदारी में जमींदारों के जुल्म से बचने के लिए किसान मूल जगह छोड़कर भाग जाते थे। इसी तरह आज के पूँजीवादी समाज में मजदूरी की बेहतर दरें और काम के मुकाबलतन बेहतर हालात मजदूरों को प्रवास करने पर मजबूर करते रहे हैं।

आज तीसरी दुनिया के देशों से बड़ी संख्या में मजदूर विकसित देशों मे प्रवास करते हैं और हर साल यह प्रवास दर बढ़ती ही जाती है। एक बड़ी संख्या में भारतीय तथा अन्य देशों के लोग अरब देशों की तरफ भी प्रवास करते हैं देश से बाहर जाने के लिए अपनी जमीन या घर बेचकर या गिरवी रख कर धन जुटाया जाता है। अरब देशों के पूंजीपति भी स्थानीय मजदूरों की जगह पर इन प्रवासी मजदूरों से काम लेना ज्यादा फायदेमंद मानते हैं। पहला कारण तो यह है कि अपने मूल देशों में ये प्रवासी मजदूर बहुत कम वेतन पाते हैं जिसका फायदा उठाते हुए अरब पूंजीपति उन्हें स्थानीय मजदूरों से कम वेतन पर रखते हैं। अपनी जमीन बेचकर या क़र्ज़ लेकर आए ये प्रवासी मजदूर नौकरी खोने के डर से कोई हड़ताल या विरोध प्रदर्शन आदि में हिस्सा भी नहीं लेते और बदतर हालतों में भी काम करते रहते हैं क्योंकि अपने देश के मुकाबले अरब देशों में मिलते वेतन से वह कुछ न कुछ बचा कर घर भेज पाने के काबिल होते हैं। अरब देशों में पड़ने वाली बेइंतहा गर्मी के बावजूद भी ये भारतीय और अन्य देशों के प्रवासी मजदूर काम करते रहते हैं।

लेकिन आदमी कब तक जानवरों की तरह काम करता रहेगा? एक न एक दिन वह बगावत पर उतर ही आता है।

कुछ ऐसे ही साबित किया 14 फरवरी को खत्म हुई बहरीन की एक निर्माण कंपनी में मजदूरों की छह दिन की हड़ताल ने। पहले चाहे अरब मुल्कों की कंपनियाँ बेहतर वेतन देती रही हों लेकिन पूँजीवाद का नियम है कि बाजार में टिके रहने के लिए पूंजीपति को लागत मूल्य घटाना होता है। और यह तब घट सकता है जब या तो नई उन्नत मशीनरी लगाई जाए और या फिर मजदूरों के वेतन में कटौती की जाए। विश्व पूंजीवाद के गहराते संकट के चलते लागू की जा रही नई आर्थिक नीतियां ये दोनों ही निर्मम मजदूर विरोधी उपाय पूंजीवाद को सुझाती हैं। इसी के खिलाफ थी बहरीन में हुई छह दिनों की निर्माण मजदूरों की हड़ताल। इस हड़ताल में शामिल लगभग 2000 हड़ताली मजदूरों में से 1400 केवल भारतीय ही थे। इससे यह तथ्य भी खुलकर सामने आया है कि पहले हमेशा चुपचाप सब कुछ सहते जाने वाले प्रवासी मजदूर अब बोलने लगे हैं। यहाँ उल्लेखनीय है कि इस हड़ताल की मुख्य मांग वेतन बढ़ाना थी। उपरोक्त कंपनी अपने मजदूरों को सिर्फ 57 बहरीन दिनार महीना देती थी यानि कि 5,974 रुपए। मजदूर 100 बहरीन दिनार माँग रहे थे। 1000 मजदूर अपने काम पर लौट गए जबकि शेष हड़ताल पर कायम रहे जिसकी वजह लेबर कैंप में किसी बात को लेकर चली कोई तकरार थी जो बाद में भारतीय दूतावास के अफसरों के हस्तक्षेप से हल हो गई। इससे पहले मजदूरों ने अपने आवास स्थान से 30 किलोमीटर दूर श्रम मंत्रालय तक रविवार के दिन पैदल मार्च करने की योजना बनाई थी लेकिन अधिकारियों ने उन्हें लेबर कैंप में ही ताला लगा कर बंद कर दिया था।

जहां इस हड़ताल ने यह भी साबित कर दिया कि कोई पूंजीवादी देश कितना भी विकसित क्यों न हो जाए वह पूंजी और श्रम के बीच का अंतरविरोध कभी भी हल नहीं कर सकता वहीं इस हड़ताल की आंशिक जीत ने दुनिया भर के मजदूरों और खासकर प्रवासी मजदूरों को बीच आशा का संचार किया है और साबित किया है कि दुनिया भर के मजदूरों के हक एक हैं और मुक्ति द्वार की तरफ जाने वाली एक ही राह है –

"समाज का प्रमुख अंग होते हुए भी आज मज़दूरों को उनके प्राथमिक अधिकार से वंचित रखा जा रहा है और उनकी गाढ़ी कमाई का सारा धन शोषक पूँजीपति हड़प जाते हैं।

... श्रमिक वर्ग ही समाज का वास्तविक पोषक है, जनता की सर्वोपरि सत्ता की स्थापना श्रमिक वर्ग का अन्तिम लक्ष्य है।"

"भारत साम्राज्यवाद के जुए के नीचे पिस रही है। इसमें करोड़ों लोग आज अज्ञानता और गरीबी के शिकार हो रहे हैं। भारत की बहुत बड़ी जनसंख्या जो मज़दूरों और किसानों की है, उनकी विदेशी दबाव एवं आर्थिक लूट ने परास्त कर दिया है। भारत के मेहनतकश वर्ग की हालत आज बहुत गंभीर है। उसके सामने दोहरा खतरा है–विदेशी पूँजीवाद का एक तरफ से और भारतीय पूँजीवाद के धोखे भरे हमले का खतरा दूसरी तरु से है। भारतीय पूँजीवाद विदेशी पूँजी के साथ हर रोज बहुत से गठजोड़ कर रहा है...

भारतीय पूँजीपति भारतीय लोगों को धोखा देकर विदेशी पूँजीपति से विश्वासघात की कीमत के रूप में सरकार में कुछ हिस्सा प्राप्त करना चाहता है। इसी कारण मेहनतकश की तमाम आशाएँ अब सिर्फ समाजवाद पर टिकी हैं और देश का भविष्य नौजवानों के सहारे है। वे धरती के बेटे हैं।"

(हिन्दुस्तान सोशिलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन का घोषणापत्र)

रंगा सियार दिल्ली में बैठकर भी हुआँ-हुआँ ही करेगा!

बीती पाँच जनवरी 2008 को तमाम पूँजीवादी अख़बारों के पन्नों पर यह ख़बर पढ़ने को मिली कि पश्चिम बंगाल की सीपीआई (एम) की सरकार के मुख्यमन्त्री बुद्धदेव भट्टाचार्य ने बयान दिया है कि पूँजीवाद का कोई विकल्प नहीं है और समाजवाद सम्भव नहीं है। हालाँकि बुद्धदेव भट्टाचार्य की समाजवाद के प्रति थोड़ी सी भी प्रतिबद्धता पर यक़ीन नहीं किया जा सकता लेकिन संशोधनवाद के इस कट्टर उपासक ने इस चर्चित बयान में इतने खुले रूप में अपना नकाब नहीं उतारा था। ये तो पूँजीवादी मीडिया की चालाकी ही है कि उसने कही गयी बात को कुछ अलग ही ढंग से पेश किया। बुद्धदेव भट्टाचार्य का बयान था कि चूँकि उनकी पार्टी की भारत के सिर्फ़ तीन राज्यों में ही सरकारें हैं जबकि केन्द्र और अन्य राज्यों में पूँजीवादी पार्टियों की सरकारें हैं इसलिए वर्तमान हालात में उन्हें भी पूँजीवादी नीतियाँ ही लागू करनी होंगी वरना औद्योगिक विकास नहीं हो पायेगा। हम इस बयान की चीरफाड़ अभी करेंगे लेकिन उससे पहले यह जान लिया जाये कि पूँजीवादी मीडिया ने इसे ग़लत तरीक़े से क्यों बयान किया।

बुद्धदेव भट्टाचार्य संशोधनवाद के कट्टर उपासक हैं। वे चेहरे से तो कम्युनिस्ट की तरह पेश आते हैं लेकिन उनकी रगों में ख़ून पूँजीवादी दौड़ता है। संशोधनवादी भारत में ही नहीं दुनियाभर में हमेशा ही पूँजीवाद की दूसरी सुरक्षा पंक्ति के रूप में ज़िम्मेदारी सँभालते आये हैं। पूँजीवादी राज्यसत्ता और उसका मीडिया संशोधनवादियों की कारगुज़ारियों को मार्क्सवाद पर हमला करने के लिए इस्तेमाल करते रहे हैं। संशोधनवादी समझौतापरस्त तो होते ही हैं, वे बातें तो मार्क्सवादियों जैसी करते हैं लेकिन क़दम-क़दम पर पूँजीवादी राज्यसत्ता से समझौता करते हैं। पूँजीवादियों का कहना है कि देखो, अब तो कम्युनिस्ट भी पूँजीवाद की ज़रूरत महसूस करते हैं। पूँजीवादी सीधे-सीधे तो कभी कम्युनिस्ट सिद्धान्तों को झुठला नहीं सके, इसलिए वे अपने बहरूपियों को कम्युनिस्ट आन्दोलन में उतारते हैं। यही बहरूपिये संशोधनवादी होते हैं। इनके मुँह से पूँजीवादी राज्यसत्ता ऐसी बातें कहलवाती है और उनसे कुछ ऐसी नीतियाँ लागू करवाती है, जिनसे साधारण जनता में कम्युनिस्ट विचारधारा और कम्युनिस्टों के बारे में भ्रम फैलाया जा सके। लोगों में भ्रम फैलाने का काम भारत में पूँजीवादी राज्यसत्ता सीपीआई और सीपीआई (एम) जैसे तमाम संशोधनवादियों, कम्युनिस्ट आन्दोलन में घुसे इन मीर ज़ाफ़रों की मदद से करती आयी है। बुद्धदेव ने जो बात कही है, वह है ही इतनी चालाकी भरी और पूँजीवादी मीडिया को इसे तोड़ने-मरोड़ने का आसान अवसर भी दे दिया, जिससे समाजवाद को ही खारिज किया जा सके और दूसरी तरफ़ समाजवाद में प्रतिबद्धता दिखाने के लिए साफ़-सफ़ाई पेश करने का इन्तज़ाम भी पहले ही कर लिया।

बुद्धदेव के इस बयान के बाद ज्योति बसु और प्रकाश कारात के भी बयान आये। जहाँ ज्योति बसु ने बुद्धदेव की ही बात दोहराते हुए उसके द्वारा पश्चिम बंगाल में लागू की जा रही नीतियों के लिए उनकी पीठ थपथपायी, वहीं प्रकाश कारात ने मीडिया में जिस तरह से इन बयानों को पेश किया गया, उसके लिए साफ़-सफ़ाई पेश की। प्रकाश कारात ने कहा कि इन बयानों का यह अर्थ नहीं था कि पार्टी का समाजवाद में विश्वास ख़त्म हो गया है, बल्कि यह है कि वर्तमान हालात में जब बाक़ी सारे देश में पूँजीवादी पार्टियाँ सरकारें चला रही हैं, ऐसे में उनके द्वारा सरकारों वाले राज्यों में भी समाजवाद लागू करना फ़िलहाल सम्भव नहीं है। उनके मुताबिक़ यह उनकी मजबूरी है कि वे पूँजीवाद लागू करें।

पहली बात तो यह है कि सी पी आई (एम) की न तो समाजवाद में कोई प्रतिबद्धता है और न ही विश्वास। उनके चेहरे से मार्क्सवाद का नकाब तो तब ही उतर गया था जब 1967 में इस पार्टी ने नक्सलबाड़ी में जनसंघर्ष को कुचलने के लिए भारतीय पूँजीवादी राज्यसत्ता की आगे बढ़कर भरपूर मदद की थी। और आज तो सी पी आई (एम) ख़ुद अपने द्वारा शासित राज्यों में अन्य राज्यों के मुक़ाबले कहीं तेज़ी, कठोरता और खूँखार तरीक़े से पूँजीवादी नीतियाँ लागू कर रही है। 1990 से पहले भारतीय राज्यसत्ता ने "कल्याणकारी राज्य" और "समाजवाद" का नकाब पहन रखा था। इसके चलते संशोधनवादियों का सरकारी "मार्क्सवाद" का नाटक आसानी से चल सकता था। लेकिन उदारीकरण-निजीकरण के दौर में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का तर्क ही संशोधनवादियों को अपना यह ड्रामा बन्द करने पर मजबूर कर रहा है। उदारीकरण-निजीकरण की नीतियाँ लागू होने से जिस तरह से समाज का ध्रुवीकरण तेज़ हो गया है, मज़दूरों से उनके बचे-खुचे अधिकार भी छीने जा रहे हैं, फ़ैक्टरियों में छँटनी-तालाबन्दी का सामना मज़दूरों को करना पड़ रहा है, छोटे मालिकों को अपने उत्पादन के साधनों से हाथ धोना पड़ रहा है, अमीर-ग़रीब की खाई जिस रफ़्तार से और गहरी और चौड़ी होती जा रही है, उससे इन नीतियों को लागू कर पाना इतना आसान नहीं है। ये वे कल्याणकारी नीतियाँ नहीं हैं जिनके चलते संशोधनवादी अपना पूँजीवादी चेहरा छिपाये रखने में कामयाब होते थे। उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों को मेहनतकश जनता के प्रतिरोध का सामना करना पड़ रहा है। ऐसे में राज्यसत्ता को कठोर दमन का सहारा लेना ही होता है। सी पी आई (एम) भी यही कर रही है। नन्दीग्राम और सिंगूर की जो घटनाएँ पिछले दिनों अख़बारों की सुर्ख़ियों में रही हैं, उनसे साफ़ है कि पूँजीवादी नीतियाँ लागू करना सी पी आई (एम) की मजबूरी न होकर उसका मुख्य उद्देश्य ही है। यह साबित हो चुका है कि सी पी आई (एम) पूँजीवादी व्यवस्था की एक वफ़ादार पार्टी है। आज भारतीय पूँजीवादी सत्ता का एक सबसे खूँखार शख़्स नरेन्द्र मोदी है तो उसकी ही बराबरी पर बुद्धदेव भट्टाचार्य का नाम लिया जा सकता है। गुजरात में 2002 में हुए मुसलमानों के नरसंहार के लिए नरेन्द्र मोदी ने "क्रिया-प्रतिक्रिया" का सिद्धान्त पेश किया था। इसी तरह से बुद्धदेव भट्टाचार्य ने नन्दीग्राम में पिछले दिनों सी पी आई (एम) के काडरों द्वारा अपनी ज़मीन ज़बरदस्ती छीने जाने के विरुद्ध आवाज़ उठा रहे विद्रोही किसानों के क़त्ल और औरतों के साथ बलात्कार को जवाबी कार्रवाई के तौर पर जायज ठहराया।

हालाँकि बुद्धदेव के ताज़ा बयान में उसके द्वारा समाजवाद का त्याग इतना स्पष्ट नहीं है, लेकिन वे पहले भी एक बयान दे चुके हैं जिसमें उन्होंने साफ़-साफ़ कहा था कि समाजवाद की बातें सिर्फ़ काग़ज़ी बातें हैं, विकास करना है तो पूँजीवाद ज़रूरी है। कई साल पहले ज्योति बसु ने मज़दूरों की एक सभा को सम्बोधित करते हुए कहा था कि ट्रेड-यूनियनें हड़तालों आदि के जरिये अब तक गुण्डागर्दी ही करती आयी हैं, कि अब उन्हें ज़िम्मेदार रवैया अपनाना चाहिए। इन सब बातों से यही साबित होता है कि सी पी आई (एम) का समाजवाद में कोई विश्वास नहीं है।

सी पी आई (एम) पिछले लगभग तीन दशकों से पश्चिम बंगाल में सरकार चला रही है। अगर सी पी आई (एम) कभी सच्ची कम्युनिस्ट पार्टी होती तो ऐसा सम्भव ही कैसे हो पाता। एक सच्ची कम्युनिस्ट पार्टी को पूँजीवादी राज्यसत्ता इस स्तर पर एक दिन भी मंजूर नहीं कर सकती, जबकि भारतीय पूँजीपति तो सी पी आई (एम) की तारीफ़ें करते नहीं थकते। बुद्धदेव तो उनकी नज़र में एकमात्र "व्यावहारिक कम्युनिस्ट" हैं। अगर कोई सच्ची कम्युनिस्ट पार्टी किसी राज्य में सरकार बना भी लेती है तो वह उस राज्य में समाजवाद लागू करने की कोशिश करेगी (जो केन्द्रीय राज्यसत्ता को क़तई मंजूर न होगा) और क्रान्तिकारी विचारधारा और आन्दोलन को पूरे देश में फैलाने के लिए जी-जान लगा देगी। लेकिन सी पी आई (एम) के बारे में ऐसा कुछ भी देखने-सुनने को नहीं मिलता। इसकी सरकारें जो कर रही हैं, वह सबके सामने है। इसका मज़दूर फ्रण्ट पर संगठन "सीटू" भी पूँजीपतियों की दलाली के अलावा और कुछ नहीं करता। मज़दूरों के आदोलनों को निराशा में डुबो देना सीटू का एक महत्त्वपूर्ण काम है। देश भर में सीटू द्वारा बनाये गये दफ़्तर केस लड़ने के नाम पर मज़दूरों से पैसे ऐंठने के लिए दुकानें भर ही हैं।

1871 में फ्रांस की राजधानी पेरिस के मज़दूरों ने इतिहास की सबसे पहली मज़दूरों की राज्यसत्ता की स्थापना की। मज़दूरों की इस प्रथम राज्यसत्ता को पेरिस कम्यून के नाम से जाना जाता है। लेकिन पेरिस कम्यून महज़ 72 दिन टिक सका। फ्रांसीसी पूँजीपति वर्ग ने अन्य देशों की फ़ौजों की मदद से बहुत ही खूँखार तरीक़े से पेरिस कम्यून को कुचल डाला। विश्व मज़दूर वर्ग के महान शिक्षक कार्ल मार्क्स ने पेरिस कम्यून के प्रयोग से यह निचोड़ निकाला कि मज़दूर वर्ग अपनी राज्यसत्ता स्थापित करने के लिए पूँजीवादी राज्य मशीनरी का इस्तेमाल नहीं कर सकता। उसे अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए पूँजीवादी राज्य मशीनरी को पूरी तरह से तबाह करना होगा व मज़दूर वर्ग को अपनी राज्य मशीनरी की सरंचना करनी होगी। सी पी आई (एम) कार्ल मार्क्स का नाम तो रटती है, 'क्रान्ति अमर रहे' के नारे तो लगाती है लेकिन उनके राज्य और क्रान्ति के बारे में सिद्धान्तों को तिलांजलि दे चुकी है। अब यह बात तय है कि केवल संसद या विधानसभाओं पर क़ब्ज़ा कर लेनेमात्र से ही राज्यसत्ता पर क़ब्ज़ा कर लेने नहीं होता है कि बाक़ी की राज्यमशीनरी जैसे फ़ौज, पुलिस न्यायपालिका, जेलें, अफ़सरशाही आदि तो सारी पूँजीवादियों के ही क़ब्ज़े में हैं। ऐसे में संसदीय मार्ग पर चलते हुए समाजवाद में प्रतिबद्धता की बात करना महज़ ज़ुबानी जमाख़र्च नहीं तो और क्या है। समाजवाद न लागू कर पाने में कुछ ही राज्यों में सरकारें होने की मजबूरियाँ गिनाना सी पी आई (एम) के लीडरों की अपनी पार्टी के ईमानदार बचे रह गये काडरों को फुसलाने के सिवा और कुछ नहीं है। असल बात तो यह है कि अगर संशोधनवादियों की केन्द्र और सभी राज्यों में भी सरकारें बन जायें तब भी ये पूँजीवादी नीतियाँ ही लागू करेंगे। रंगा सियार दिल्ली में बैठकर भी हुआँ-हुआँ ही करेगा!

–लखविन्दर

क़र्ज़माफ़ी का पाखण्ड...

(पेज 1 से आगे)

से क़र्ज़ लेते हैं। बाकी निजी सूदखोरों से महँगी ब्याज दरों पर कर्जे लेते हैं। सरकारी क़र्ज़ का भी ज़्यादा फ़ायदा बड़े व मंझोले किसान ही उठाते हैं। बैंकों से छोटे किसानों को जो थोड़ा-बहुत क़र्ज़ मिल पाता है उसका आधे से ज्यादा ग्राम प्रधान-लेखपाल, बी.डी.ओ., बैंक अधिकारियों से लेकर दलालों के बीच बाँट-बखरे में चला जाता हैं। किसानों द्वारा आत्महत्याएँ करने वाले प्रमुख इलाकों के बारे में आयी अनेक रिपोर्टों में यह बात सामने आ चुकी है कि वे ज़्यादातर निजी सूदखोरों के क़र्ज़ में डूबे थे। चिदम्बरम के बजट से ऐसे किसानों को तो यह फौरी राहत भी मिलने से रही। यह सवाल उठने पर चिदम्बरम ने यह कहकर पल्ला झाड़ लिया कि वह बेबस हैं। शरद पवार ने इन किसानों के जख्मों पर मरहम लगाने का पाखण्ड करते हुए बयान दिया कि अवैध सूदखोरों के क़र्ज़ मत वापस करो।

किसानों की क़र्ज़माफी के इस पाखण्ड और शोर-शराबे के बीच बजट में उठाये गये उन नीतिगत क़दमों को छुपा दिया गया है जो निजीकरण-उदारीकरण की प्रक्रिया को और तेज़ कर देंगे। शिक्षा और स्वास्थ्य क्षेत्र में निजी देशी और विदेशी पूँजी की घुसपैठ के रास्ते और सुगम बना दिये गये हैं। साथ ही, उत्पाद शुल्कों में कटौती कर आटोमोबाइल और दवा उद्योग को सीधा तोहफा भी दिया गया है। निजी अस्पतालों को पाँच सालों तक प्रत्यक्ष करों में पूरी तरह छूट देकर उनके संचालकों की झोली भर दी गयी है।

चुनावी मौसम में किसानों की यह क़र्ज़माफ़ी भी उस क़र्ज़माफ़ी की तुलना में कुछ नहीं है जो पूँजीपतियों को हर साल दी जाती है, जो सीधे-सीधे जनता की मेहनत की कमाई पर डाकेजनी ही होती है। केवल वर्ष 2005-2007 के दो वर्षों के बीच ही पूँजीपतियों के 10,000 करोड़ रुपये के क़र्ज़े माफ़ कर दिये गये। यह एकमुश्त क़र्ज़ अदायगी स्कीम (वन टाइम सेटलमेण्ट स्कीम) के तहत किया जाता है। इस बजट में भी बड़े किसानों को इसी स्कीम के तहत फ़ायदा पहुँचाया गया है। 75 फ़ीसदी क़र्ज़े एकमुश्त जमा करने पर बाक़ी के 25 फ़ीसदी क़र्ज़े माफ़ करने की घोषणा की गयी है। उद्योगपतियों के लिए तो यह स्कीम एक तरह से बारहों महीने चालू रहती है।

इसके अलावा बजट में दलितों, अल्पसंख्यकों, महिलाओं, बुजुर्गों आदि के लिए जो राहतों की घोषणाएँ की गयी है वे वोटर पटाऊ घोषणाएँ हैं। मध्यवर्ग को आयकर में जो छूटें दी गयी हैं वे चिदम्बरम की चुनावी मेहरबानी के अलावा इसलिए भी ज़रूरी हो गयी थीं क्योंकि अगर इस वर्ग की आय नहीं बढ़ेगी तो वह लखटकिया कारें, नये-नये मॉडल की मोटर साइकिलें और नयी-नयी विलासिता सामग्रियों को कैसे खरीदेगा? आखिर पूँजीपतियों की तिजोरियाँ भरने के लिए उनक मालों के खरीदार भी तो चाहिए!

बाक़ी, देश की अन्य ग़रीब मेहनतकश आबादी–औद्योगिक मज़दूरों, खेतिहर मज़दूरों–के लिए इस बजट में झुनझुनों के सिवा कुछ भी नहीं है। पूँजीपतियों के वफ़ादार चाकर चिदम्बरम से इस बारे में उम्मीद भी नहीं पालनी चाहिए। असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों की सामाजिक सुरक्षा के लिए किसी विधेयक पर चार सालों से हल्ला मचाया जा रहा है लेकिन चिदम्बरम ने इस बारे में एक शब्द भी नहीं कहा। अलबत्ता, राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी योजना के पाखण्ड का विस्तार कर उसे देशव्यापी बना दिया गया है।

कुल मिलाकर चिदम्बरम का यह बजट भी पहले बजटों की ही तरह कारपोरेट व्यंजन ही है। चुनावी मौसम में इस बार उसमें किसानों का तड़का लगा दिया गया है। वैसे चुनाव नहीं भी होता तो एक हद तक बजट पर कल्याणकारी रंगरोगन करना और भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया पर "मानवीय मुखौटा" लगाना सरकार की ज़रूरत बन गयी थी। सारी दुनिया में आज जो जनअसन्तोष बढ़ रहा है उसे देखते हुए पूँजीवादी-साम्राज्यवादी सिद्धान्तकार अन्धाधुन्ध भूमण्डलीकरण के बजाय "मानवीय" भूमण्डलीकरण की नसीहतें दे रहे हैं। बजट से देश के कारपोरेट जगत में जो थोड़ी मायूसी नज़र आ रही है उसका कारण केवल यह है कि वे चिदम्बरम से पहले के बजटों की तरह छप्परफाड़ तोहफ़े चाह रहे थे। यह भी कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। यह पूँजीपति वर्ग और उसकी मैनेजिंग कमेटी के रूप में काम करने वाली सरकार का अन्तरविरोध है। पूँजीपति को केवल अपनी कम्पनी के मुनाफ़े की चिन्ता होती है जबकि उनकी सरकारों को पूँजीवादी व्यवस्था की हिफ़ाजत करनी होती है। उन्हें जनअसन्तोष की आँच पर बीच-बीच में पानी के छींटे भी मारने होते हैं। हालाँकि इससे कभी पूरी तरह काम चलता नहीं, इसलिए इस असन्तोष के दमन की तैयारी भी करनी पड़ती है। चिदम्बर ने बजट में इसका पूरा ख्याल रखा है। इसलिए बाह्य सुरक्षा से निपटने के नाम पर रक्षा खर्चों में बढ़ोत्तरी के साथ ही 'आन्तरिक सुरक्षा' के खतरों से निपटने के लिए पुलिस और अर्धसैनिक बलों के खर्चों के मदों में भी दिल खोलकर पैसे दिये हैं।

'पुरबिया' मेहनतकशों के ख़िलाफ़ क्षेत्रवादी मुहिम...

(पेज 1 से आगे)

समर्थन में राज ठाकरे और बाल ठाकरे के खिलाफ काफ़ी लाल-पीले नज़र आये। उनकी मुख्य चिन्ता यह थी कि ठाकरे परिवार क्षेत्रवाद की आग भड़काकर हिन्दुओं को बाँट रहा है। इसी तरह भाजपा ने अगर राज ठाकरे के खिलाफ कुछ जुबान खोली भी तो केवल इसलिए कि महाराष्ट्र में शिवसेना के साथ उसका चुनावी गठबन्धन है और राज ठाकरे शिवसेना के लिए 'वोटकटवा' बन रहे है। वैसे, भाजपा ने सारे मामले में मुख्यतः 'नरो वा कुंजरो' वाला रुख ही अख़्तियार किया।

'मराठी मानुष' बनाम उत्तर भारतीय विवाद के इस धूल-धक्कड़ को केवल चुनावी राजनीति के दाँव-घात की सतह पर ही नहीं देखना चाहिए। दरअसल, चुनावी पार्टियों की यह सारी कवायद बुनियादी मुद्दों पर पर्दा डालने के लिए है। दरअसल देश में भूमण्डलीकरण के नाम पर पिछले डेढ़ दशकों से देशी-विदेशी पूँजी की जो बर्बर लूट जारी है उससे देश की मेहनतकश जनता में जो आक्रोश गहरा रहा है उसके विस्फोटक नतीज़ों को सारी चुनावी पार्टियाँ भाँप रही हैं। बुर्जुआ वर्ग के तमाम सिद्धान्तकार सरकार चलाने वालों और बुर्जुआ पार्टियों को इस मसले पर अक्सर चेताते भी रहते हैं। विकास की जगमग मीनारों के बीच रसातल की दुनिया में रहने को मजबूर करोड़ों मेहनतकशों का गुस्सा हुकूमती जमातों की ओर न मुड़ जाये इसलिए वे उन्हें आपस में ही लड़ाने के लिए चुनावी पार्टियाँ धार्मिक, जातिगत, भाषाई, इलाकाई मुद्दों को हवा देने में जुटे हैं। खुली बुर्जुआ पार्टियों की बात छोड़ दीजिए, आलम यह है कि पश्चिम बंगाल में सी.पी.एम. का एक मंत्री बंगाली भद्र जनों की सभा में उनकी सांस्कृतिक श्रेष्ठता और सरलता का गुणगान करते हुए मारवाड़ियों के काइयांपन पर बरसता है और नफ़रत का ज़हर फैलाता है।

संकीर्णतावादी राजनीति की ये सारी क़िस्में आज जिस संकट की ज़मीन पर फल-फूल रही हैं उसे समझना ज़रूरी है।

1970 के दशक में बाल ठाकरे की राजनीति का उत्थान भी ऐसे ही एक संकट की ज़मीन पर हुआ था। वह दौर था आज़ादी के स्वप्न भंग का। देश की मिश्रित पूँजीवादी अर्थव्यवस्था गहरे संकटों में फँसी हुई थी। औद्योगिक मन्दी के चलते कल-कारखाने बन्द हो रहे थे। नतीज़तन बेरोजगारी बढ़ रही थी, महंगाई बढ़ रही थी। मज़दूर-किसान जनता के साथ ही मध्यवर्गीय युवाओं का असन्तोष हिलोरें ले रहा था।दत्ता सामन्त के नेतृत्व में चली कपड़ा मिलों की लम्बी हड़ताल की विफलता के बाद शुरू हुए छँटनी के सिलसिले ने मराठी मज़दूरों और निम्न मध्यवर्ग के अन्य मेहनतकश लोगों के मन में गैर मराठी मज़दूरों के प्रति कडुआहट और अलगाव की भावना पैदा करने के लिए माकूल ज़मीन मुहैया करायी थी। इसी माहौल में बेरोजगार मध्यवर्गीय मराठी युवकों को बालठाकरे के नारे अपनी ओर खींच रहे थे। 1970 के दशक की मुम्बई और बाल ठाकरे की राजनीति के उत्थान को हम इसी पृष्ठभूमि में समझ सकते हैं।

आज भूमण्डलीकरण के दौर में 'रोजगार विहीन विकास' इस अलगाव के लिए एक नयी ज़मीन मुहैया करा रहा है। सभी औद्योगिक क्षेत्रों में मूलनिवासी मज़दूरों और प्रवासी मज़दूरों के बीच अन्दर ही अन्दर कडुआहट की भावना पनप रही है। मज़दूरों के वर्गीय आन्दोलन के कमज़ोर होने के चलते मूलनिवासी मज़दूर अपने रोजगार की अनिश्चतता और ज़िन्दगी की बढ़ती दुश्वारियों के लिए पूँजीवादी व्यवस्था को दोषी समझने के बजाय प्रवासी मज़दूरों को समझ रहे हैं। बुर्जुआ चुनावी पार्टियाँ चुनावी लाभ बटोरने की नीयत से ही नहीं जनता के बीच के इस अन्तरविरोध को उभाड़ रही हैं। उनकी एकता के रास्ते में रुकावटें खडी कर वे पूँजीवाद की भी हिफाजत कर रही हैं। राज ठाकरे-बाल ठाकरे जैसे लोग भी यही कर रहे हैं।

मूलनिवासी मज़दूरों और प्रवासी मज़दूरों के बीच के इस अन्तरविरोध को आज पूँजीवादी शासक समूची दुनिया में हवा दे रहे हैं। इसके अलग-अलग रूप हैं। एक देश के भीतर विभिन्न इलाकों व राष्ट्रीयताओं के बीच के अन्तरविरोधों को उभाड़ने के साथ ही एक देश के मूलनिवासी मज़दूरों और दूसरे देश या महाद्वीप के प्रवासी मज़दूरों के बीच के अन्तरविरोधों को भी खूब हवा दी जा रही है। आज समूचे यूरोप और अमेरिका में वहाँ के शासक एशियाई, लातिन अमेरिकी, या अफ़्रीकी मूल के प्रवासी मज़दूरों के खिलाफ़ मूलनिवासी मज़दूरों के मन में नफ़रत के बीज बो रहे हैं क्योंकि वहाँ भी बढ़ती बेरोजगारी और विभिन्न नागरिक सुविधाओं की कटौतियाँ जनअसन्तोष को जन्म दे रही हैं। जिस तरह पूँजीवाद का संकट भूमण्डलव्यापी हो गया है उसी तरह आज समूचे भूमण्डल के स्तर पर मूलनिवासी और आप्रवासी मज़दूरों के बीच के अलगाव पैदा कर मेहनतकश वर्गों की एकता को तोड़ने की कोशिशें भी तेज़ हो गयी हैं। आज के विश्वव्यापी पूँजीवादी संकट की इसी ज़मीन पर खड़े होकर अलग-अलग यूरोपीय देशों में फासीवाद की नयी-नयी क़िस्में पैदा हो रही हैं।

आज भारत में, बात केवल महाराष्ट्र की ही नहीं है। पंजाब में भी पंजाबी मज़दूरों और प्रवासी मज़दूरों के बीच अलगाव पैदा करने की कोशिशें पूँजीपति और बुर्जुआ नेता लगातार करते रहते हैं। कुछ समय पहले असम में बिहारी मज़दूरों पर हुए हमलों की बात हो या उसकी प्रतिक्रिया के नाम पर बिहार में असमिया ट्रेन यात्रियों के ऊपर हुए हमले–ये सारी कारगुज़ारियाँ मेहनतकश जनों की एकता को कमज़ोर बनाने के लिए ही की जाती हैं।

कहने की ज़रूरत नहीं कि संकीर्णतावादी फासिस्ट राजनीति की तमाम किस्मों के फलने-फूलने का एक अहम कारण देश में क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन का कमज़ोर होना है जिससे मज़दूरों की वर्गीय चेतना आज दबी हुई है। जहाँ कहीं भी मज़दूरों की वर्गीय लामबन्दी की कोशिशें होती हैं, प्रवासी और मूलनिवासी मज़दूरों के बीच के पैदा किये जा रहे ये नक़ली बँटवारें से जूझना पड़ता है। लेकिन अगर धैर्य के साथ रचनात्मक तरीके से कोशिशें की जायें तो एका कायम करना असम्भव भी नहीं।

शासक वर्ग लाख कोशिशें कर ले, मज़दूर अपनी वर्गीय पहचान नहीं भूल सकता। मज़दूरों की वर्गीय एका कायम करने करने के लिए मज़दूरों के आर्थिक मुद्दों पर संघर्ष को तेज़ करने के साथ ही हमें राजनीतिक प्रचार भी तेज़ करना होगा। क्योंकि मज़दूरों के क्रान्तिकारी वर्ग सेघर्ष के रास्ते से ही देश में फासीवादी राजनीति की तमाम क़िस्मों के मंसूबों को नाक़ाम किया जा सकता है।

झूठ और कुत्सा-प्रचार की बुनियाद पर खड़ी फासीवादी राजनीति

हर किस्म की फासीवादी राजनीति झूठ और कुत्सा प्रचार की बुनियाद पर ही टिकी होती है। हिटलर और उसके प्रचार मंत्री गोयबल्स का यह फिक़रा तो सभी जानते ही हैं –"एक झूठ को सौ बार बोलो तो वह सच हो जायेगा।" हिटलर के देशी वंशजों ने भी अपनी राजनीति को आगे बढ़ाने के लिए तरह-तरह के 'झूठे-सच' खड़े किये हैं। जिस तरह हिन्दुत्व की राजनीति के अलमबरदारों ने मुसलमानों के बारे में तरह-तरह के झूठों को 'हिन्दू जनमानस' में पैठाया है उसी तरह राज ठाकरे-बाल ठाकरे की राजनीति ने भी 'भइया लोगों' के बारे में तरह-तरह की झूठी बातें 'मराठी मानुस' के मन में पैठायी हैं। कुछ नमूने देखियेः

"उत्तर भारत के लोग बिन बुलाये चले आते हैं, एक आता है तो पूरा गाँव आ जाता है।' 'उत्तर भारतीय राई का तेल इस्तेमाल करते हैं, सिर में चमेली का तेल लगाते हैं, पान खाकर जहाँ कहीं भी मन होता है, थूक देते हैं।' 'जो काम दिया जाता है, नहीं करते हैं, आलसी होते हैं, अपराधी और बदमाश प्रकृति के होते हैं।'

कुत्सा प्रचार की इन्तेहां देखिए! यह प्रचार किया जाता है कि भैया लोगों के ज़्यादातर बच्चे अवैध हैं क्योंकि उनके पिता शहरों में मज़दूरी करने आते हैं। हद तो यह है कि यहाँ तक प्रचारित किया जाता है कि वे जानवरों से यौन सम्बन्ध बनाते हैं।

जिस तरह हिन्दुत्व ब्रिग्रेड यह झूठ प्रचारित करती है कि देश में मुसलमानों की संख्या तेज़ी से बढ़ रही है उसी तरह मुम्बई में यह प्रचारित किया जाता है कि मूल मराठियों की संख्या उत्तर भारतीयों से कम हो रही है। सच यह है कि 1961 में मुम्बई में मराठियों की संख्या कुल आबादी की केवल 34 फीसदी थी जो आज बढ़कर सत्तावन फीसदी से ऊपर हो गयी है। टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज़ के एक अध्ययन के अनुसार उनचास फीसदी प्रवासी लोग उत्पादन कार्यों में लगे हैं। दूसरी ओर, अधिक वेतन और सुविधाओं वाले सफेदपोश कामों में मराठियों का ही वर्चस्व है जो ग़रीब 'भइया लोगों' को दुरदुराते रहते हैं।

उत्तर भारतीय नेताओं के बारे में भी तरह-तरह के किस्से प्रचारित हैं। जैसे कि रेल मंत्री लालू प्रसाद यादव अनपढ़ हैं और बिहार के मुख्यमंत्री नीतीश कुमार प्रोफेशनल गुण्डे हैं। उत्तर भारतीय नेता अपनी दादागिरी जमाने के लिए शिवाजी पार्क में सभाएँ करते हैं आदि।

इसके अलावा मुम्बई को लेकर भी कुछ मिथक प्रचलित हैं। मसलन, "मुम्बई में कोई दैवी शक्ति है जिससे यहाँ की धरती पर पैसा उगता है, निकल जाओ और पैसा इकट्ठा कर लो"। इस 'मिथक' का प्रभाव यह है कि पुणे, नासिक आदि शहरों के बेरोजगार मराठी युवा यह सोचने लगे हैं कि मुम्बई की जो दौलत उनके लिए है उस पर 'भैया लोग' काबिज हैं। ऐसे निराश युवा जो कल तक शिव सेना के साथ थे आज अच्छी तादाद में राज ठाकरे की नवनिर्माण सेना से जुड़ रहे हैं।

पूँजीपति वर्ग की तमाम चालें मज़दूरों की वर्गीय एकजुटता को नहीं रोक सकतीं

असमान विकास पूँजीवाद की विशेषता है। यह एक देश के भीतर भी होता है तथा विश्व स्तर पर भी। पूँजीपतियों को देश के सम्पूर्ण और समान विकास की फ़िक्रमन्दी नहीं होती। उनकी पहली और आख़िरी चिन्ता होती है अपना मुनाफ़ा बढ़ाने की–चाहे जैसे मुमकिन हो। इसीलिए पूँजीपति उन्हीं जगहों पर पूँजी लगाना पसन्द करते हैं जहाँ पूँजीनिवेश के लिए बेहतर हालात, यानी कच्चे माल की आपूर्ति, तैयार माल के लिए बाज़ार आदि होते हैं। इसके कारण देश के भीतर पूँजी का कुछेक औद्योगिक नगरों के इर्दगिर्द संकेन्द्रण होता जाता है और देश के बाक़ी इलाके सस्ते श्रम की आपूर्ति के इलाके बन जाते हैं। पिछले साठ वर्षों में देश में पूँजीवादी विकास की इसी प्रक्रिया ने पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखण्ड आदि पिछड़ी खेती वाले इलाकों को लेबर सप्लायर क्षेत्र में बदल दिया है। इन इलाकों से भारी संख्या में मज़दूर आबादी औद्योगिक क्षेत्रों या विकसित खेती वाले इलाकों की ओर प्रवास या पलायन करती रहती है। भूमण्डलीकरण ने इस प्रक्रिया को तेज़ कर दिया है।

यही असमान विकास हमें विश्व स्तर पर भी दिखायी देता है। एक तरफ़ विकसित पूँजीवादी देश हैं, जहाँ पूँजी का अत्याधिक संकेन्द्रण है, तो दूसरी तरफ तीसरी दुनिया के पिछड़े पूँजीवादी देश हैं जो कभी साम्राज्यवादी देशों के उपनिवेश, अर्द्धउपनिवेश या नव उपनिवेश रह चुके हैं। इस औपनिवेशिक गुलामी ने इन देशों के पूँजीवादी विकास को तरह-तरह से बाधित किया। औपनिवेशिक गुलामी से मुक्ति के बाद भी इन देशों में साम्राज्यवादी शोषण-उत्पीड़न का सिलसिला थमा नहीं, बस उसके रूप बदल गये। नतीज़तन यहाँ स्वस्थ पूँजीवाद विकसित नहीं हो सका। यहाँ एक बीमार-अपाहिज पूँजीवाद पनपा–औपनिवेशिक ग़ुलामी से पैदा हुआ एक ऐसा पूँजीवाद जिसे जवानी में ही बुढ़ापे के रोग लग गये थे। यहाँ उत्पादक शक्तियों का विकास आज भी साम्राज्यवादी-विकसित पूँजीवादी देशों के मुक़ाबले दशकों पीछे है। इसी कारण आज भी साम्राज्यवादी देशों के लिए अफ़्रीका, लातिन अमेरिका और एशिया के पिछड़े देश सस्ते कच्चे मालों तथा सस्ती श्रमशक्ति का मुख्य स्रोत बने हुए हैं।

प्रवासी मज़दूरों को लेकर पूँजीवाद हमेशा एक विचित्र दुविधा के बीच फँसा रहता है। उसे सस्ते मज़दूर भी चाहिए लेकिन विभिन्न इलाकें के मज़दूरों की एकजुटता से वह डरता भी रहता है। पिछड़े इलाकों, देशों के मज़दूर जब उन्नत उत्पादक शक्तियों, उन्नत सभ्यता और संस्कृति के मज़दूरों के सम्पर्क में आते हैं तो उनके अन्दर व्यापक वर्गीय एकजुटता का आधार मज़बूत होता है। आज, जब मज़दूर आन्दोलन कमज़ोर है तब शासक वर्गों की राजनीति उन्हें जाति, धर्म, इलाका, भाषा, संस्कृति में बाँटने में कामयाब हो रही है लेकिन पूँजीवाद अन्ततः अपनी फ़ितरत और उससे पैदा होने वाली ज़रूरतों से मात खायेगा। यह अपनी कब्र खोदने वालों को लगातार पैदा करता जा रहा है और उन्हें भाषा, नस्ल, राष्ट्रीयता के किसी भेद के बगैर एक जैसी जीवन परिस्थितियों में धकेल कर दुनिया भर के मज़दूरों को एकजुट भी कर रहा है। विश्व पूँजीवाद के केन्द्रों पर इकट्ठा हो रहे आधुनिक समय के ये उजरती गुलाम एक दिन अपनी एकता का वास्तविक आधार पहचानेंगे और पूँजीवाद को उसकी कब्र में पहुँचा देंगे। यही उसकी ऐतिहासिक नियति है। आज खुद पूँजीवाद ने ही इसकी पहले से अधिक पुख़्ता ज़मीन तैयार कर दी है।

> "लोगों को परस्पर लड़ने से रोकने के लिए वर्ग चेतना की ज़रूरत है। गरीब मेहनतकश व किसानों को स्पष्ट समझा देना चाहिए कि तुम्हारे असली दुश्मन पूँजीपति हैं, इसलिए तुम्हें इनके हथकण्डों से बचकर रहना चाहिए और इनके हत्थे चढ़ कुछ न करना चाहिए।"
>
> **–भगतसिंह,**
> ***'साम्प्रदायिक दंगे और उनका इलाज' से***

पेरिस कम्यून की स्थापना की 137वीं वर्षगाँठ (18 मार्च) के अवसर पर

कम्यून की स्मृति में

व्ला. इ. लेनिन

". . . फ़्रांस के ही नहीं, अपितु सारे विश्व के सर्वहारा पेरिस कम्यून के कार्यकर्त्ताओं का अपने पूर्वगामियों के रूप में क्यों सम्मान करते हैं? और कम्यून की धरोहर क्या है?

कम्यून का जन्म स्वतःस्फूर्त रूप से हुआ। उसे किसी ने भी नियोजित ढंग से तैयार नहीं किया था। जर्मनी के विरुद्ध असफल युद्ध, घेरेबंदी के समय झेले गये कष्ट, सर्वहारा वर्ग के बीच बेरोज़गारी तथा छोटे बुर्जुआ वर्ग के बीच तबाही; ऊपरी वर्गों के विरुद्ध तथा घोर अक्षमता प्रदर्शित करनेवाले अधिकारियों के विरुद्ध जनसाधरण का रोष, अपनी स्थिति से असंतुष्ट तथा भिन्न सामाजिक व्यवस्था के लिए प्रयत्नशील मज़दूर वर्ग के बीच धुंधली-सी बेचैनी; जनंतत्र की नियति के बारे में आशंकाएं उत्पन्न करनेवाली राष्ट्रीय सभा का प्रतिक्रियावादी स्वरूप—ये सब तथा दूसरे बहुत-से कारण पेरिस की आबादी को 18 मार्च की क्रान्ति की ओर धकेलने के लिए सूत्रबद्ध हो गये, जिसने सत्ता को अप्रत्याशित रूप से राष्ट्रीय गार्ड के हाथों में, मज़दूर वर्ग तथा उससे मिल जानेवाले टुटपुंजिया वर्ग के हाथों में सौंप दिया था।

यह इतिहास में अभूतपूर्त घटना थी। उस समय तक सत्ता आम तौर पर ज़मींदारों तथा पूँजीपतियों के, याने उनके विश्वसनीय लोगों के हाथों में होती थी, जिन्हें लेकर उसका गठन होता था, जिसे सरकार कहते थे। लेकिन 18 मार्च की क्रान्ति के उपरांत, जब श्री थियेर की सरकार अपने सैनिक, पुलिस तथा अफ़सरों को लेकर पेरिस से भाग गयी थी, जनता स्थिति की स्वामी बन गयी तथा सत्ता सर्वहारा वर्ग के हाथों में पहुँच गयी। परन्तु आधुनिक समाज में सर्वहारा वर्ग का, जिसे पूँजी आर्थिक दृष्टि से अपना दास बनाकर रखती है, राजनीतिक दृष्टि से तब तक प्रभुत्व नहीं हो सकता, जब तक वह उन ज़ंजीरों को नहीं तोड़ देता, जो उसे पूँजी के साथ बाँधकर रखती हैं। इसी कारण यह आवश्यक था कि कम्यून का आंदोलन अवश्यंभावी रूप से समाजवादी रंग ग्रहण करता, याने बुर्जुआ वर्ग के प्रभुत्व को, पूँजी के प्रभुत्व को उलट देने तथा समकालीन सामाजिक व्यवस्था की ठीक बुनियादों को नष्ट कर देने के प्रयत्न शुरू करता।

शुरू-शुरू में यह आंदोलन घोर उलझनभरा, अनिश्चित था। उसमें वे देशभक्त भी शामिल हुए, जिन्हें आशा थी कि कम्यून जर्मनों के साथ युद्ध फिर से शुरू कर देगा, उसे सफल समापन तक पहुँचायेगा। उसका छोटे दुकानदारों ने भी समर्थन किया, जिनके तबाह हो जाने का खतरा था, अगर क़र्जों तथा मकान-भाड़े का भुगतान मुल्तवी न किया जाता(इन्हें मुल्तवी करने से सरकार ने इनकार कर दिया था, परंतु कम्यून ने कर दिया था)। आखिरी चीज़, शुरू-शुरू में कम्यून को एक हद तक बुर्जुआ जनतंत्रवादियों की सहानुभूति भी प्राप्त थी, जिन्हें भय था कि प्रतिक्रियावादी राष्ट्रीय सभा ("गंवार", वहशी ज़मींदार) राजतंत्र की पुनःस्थापना कर देगी । परंतु इस आंदोलन में मुख्य भूमिका निस्संदेह मज़दूरों (ख़ास तौर पर पेरिस के कारीगरों) ने अदा की, जिनके बीच द्वितीय साम्राज्य के अंतिम सालों में सक्रिय समाजवादी प्रचार किया गया था और जिनमें से बहुत-से इंटरनेशनल तक में थे।

केवल मज़दूर ही अंत तक कम्यून के प्रति वफ़ादार रहे। बुर्जुआ जनतंत्रवादी तथा टुटपुंजियाई उससे शीघ्र अलग हो गये—पहले आंदोलन के क्रान्तिकारी-समाजवादी, सर्वहारा स्वरूप को देखकर भयभीत हो गये ; दूसरों ने उस समय उससे नाता तोड़ दिया, जब उन्होंने देखा कि उसकी पराजय अवश्यंभावी है। केवल फ़्रांसीसी सर्वहारा निर्भीकतापूर्वक, अथक रूप से अपनी सरकार का समर्थन करते रहे, अकेले वे उसके लिए, याने मज़दूर वर्ग की मुक्ति के ध्येय के लिए, तमाम मेहनतकशों के वास्ते उज्ज्वल भविष्य के लिए लड़े और मर-मिटे।

अपने भूतपूर्व साथियों द्वारा परित्यक्त, समर्थन से वंचित कम्यून की पराजय अपरिहार्य थी। फ़्रांस के सारे बुर्जुआ, सारे ज़मींदार, शेयर-दलाल, कारख़ानेदार, सारे छोटे-बड़े डाकू, सारे शोषक उसके विरुद्ध ऐक्यबद्ध हो गये। बिस्मार्क का (जिन्होंने एक लाख फ़्रांसीसी युद्धबंदी क्रान्तिकारी पेरिस को कुचलने के लिए छोड़ दिये थे) समर्थन प्राप्त यह बुर्जुआ गँठजोड़ जाहिल किसानों तथा प्रांतीय टुटपुंजिया लोगों को पेरिस के सर्वहारा वर्ग के विरुद्ध कर देने और आधे पेरिस के चारों ओर फ़ौलादी घेरा बनाने में सफल हो गया (बाक़ी आधा पेरिस जर्मन सेना द्वारा घेर लिया गया था)। फ़्रांस के कुछ बड़े शहरों (मार्सेल्ज़, लियां, सेंत-ऐतियें, दिजां, आदि) में भी मज़दूरों ने सत्ता छीनने, कम्यून की उद्घोषणा करने तथा पेरिस की मदद के लिए पहुँचने का प्रयत्न किया, परंतु ये प्रयत्न शीघ्र असफलता के साथ समाप्त हो गये। सर्वहारा विद्रोह का सबसे पहले झंडा बुलंद करनेवाले पेरिस को अपनी ही शक्ति के सहारे रहने के लिए छोड़ दिया गया और उसका विनाश होना अवश्यंभावी था।

विजयी सामाजिक क्रान्ति के लिए कम से कम दो शर्तों की पूर्ति आवश्यक होती है—अति विकसित उत्पादक शक्तियाँ तथा सर्वहारा की तैयारी। परंतु 1871 में इन दोनों शर्तों की पूर्ति का अभाव था। फ़्रांसीसी पूँजीवाद अभी कम विकसित था तथा फ़्रांस उस समय मुख्यतः टुटपुंजियाइयों (कारीगरों, किसानों, दुकानदारों, आदि) का देश था। दूसरी ओर वहां मज़दूरों की कोई पार्टी नहीं थी, तैयार तथा लंबे समय से प्रशिक्षित मज़दूर वर्ग नहीं था, जिसके बड़े भाग को अभी अपने कार्यभार तथा उनकी पूर्ति के साधन क़तई स्पष्ट नहीं दिखाई दे रहे थे। न कोई महत्वपूर्ण सर्वहारा राजनीतिक संगठन था और न शक्तिशाली ट्रेड-यूनियनें तथा सहकारी समितियां...

परंतु उस समय कम्यून के पास जिस मुख्य वस्तु का अभाव था, वह था वक़्त, आगे-पीछे नज़र दौड़ाने, अपने कार्यक्रम की पूर्ति का बीड़ा उठाने की फ़ुरसत । वह काम में जुट भी न पाया था कि वेर्साई में जमी तथा पूरे बुर्जुआ वर्ग द्वारा समर्थित सरकार ने पेरिस के विरुद्ध युद्ध की कार्रवाइयां शुरू कर दीं। कम्यून को सबसे पहले आत्म-रक्षा के बारे में सोचना पड़ा। ठीक अंत तक, 21-28 मई तक उसे और किसी बारे में संजीदगी से सोचने का मौक़ा ही नहीं मिला।

फिर भी इन प्रतिकूल अवस्थाओं के बावजूद, अपने अल्पकालिक अस्तित्व के बावजूद कम्यून कुछ पग उठाने में सफल रहा, जो उसके वास्तविक महत्व तथा उद्देश्यों को अभिलक्षित करते हैं। कम्यून ने स्थायी सेना, सत्ताधारी वर्गों के हाथों के इस दानवी अस्त्र के स्थान पर पूरी जनता को हथियारबंद किया। उसने धर्म को राज्य से पृथक करने की घोषणा की, धार्मिक पंथों को राज्य से दी जानेवाली धनराशियां (याने पुरोहित-पादरियों को राजकीय वेतन) बंद कर दीं, जनता की शिक्षा को सही अर्थों में धर्मनिरपेक्ष बना दिया और इस तरह चोग़ाधारी पुलिसवालों पर करारा प्रहार किया। विशुद्ध रूप से सामाजिक क्षेत्र में कम्यून बहुत कम हासिल कर पाया, परंतु यह बहुत कम भी जनता की, मज़दूरों की सरकार के रूप में उसका स्वरूप बहुत साफ़ तौर पर उजागर करता है। नानबाइयों की दुकानों में रात्रि-श्रम पर पाबंदी लगा दी गयी ; जुर्माने की प्रणाली का, जो मज़दूरों के साथ कानूनी रूप प्राप्त डकैती थी, ख़ात्मा कर दिया गया। आखिरी चीज, वह प्रसिद्ध आज्ञप्ति जारी की गयी, जिसके अनुसार मालिकों द्वारा परित्यक्त अथवा बंद किये गये सारे मिल-कारखाने और वर्कशाप उत्पादन फिर से शुरू करने के लिए मज़दूर आर्टेलों को सौंप दिये गये। और मानो सच्ची जनवादी, सर्वहारा सरकार के अपने स्वरूप पर जोर देने के हेतु कम्यून ने यह निर्देश दिया कि समस्त प्रशासनिक तथा सरकारी अधिकारियों के वेतन मज़दूर की सामान्य उजरत से अधिक नहीं होंगे और किसी भी सूरत में 6000 फ़्रांस (200 रूबल से कम प्रति मास) प्रति वर्ष से ज्यादा नहीं होंगे।

इस तमाम पगों ने पर्याप्त स्पष्टता के साथ यह दिखा दिया कि कम्यून जनता की गुलामी और शोषण पर आधारित पुरानी दुनिया के लिए घातक ख़तरा था। इसी कारण बुर्जुआ समाज तब तक चैन महसूस नहीं कर सका, जब तक पेरिस की नगर दूमा पर सर्वहारा वर्ग का लाल झंडा फहराता रहा। और जब संगठित सरकारी शक्तियां क्रान्ति की बुरी तरह संगठित शक्तियों पर हावी होने में सफल हो गयीं, तो जर्मनों द्वारा पराजित और परास्त देशभाइयों के विरुद्ध जवांमर्दी दिखानेवाने बोनापार्त के जनरलों, इन फ़्रांसीसी रेन्नेनकांफ़ों और मेल्लेर-जाकोमेल्स्कियों ने ऐसा नरसंहार आयोजित किया, जैसा पेरिस ने पहले कभी नहीं देखा था। लगभग 30,000 पेरिसवासियों को नृशंस सिपाहियों ने गोलियों से भून डाला, लगभग 45,000 गिरफ्तार किये गये, जिनमें से बहुतों को बाद में मौत की सज़ा दी गयी, हजारों को काला पानी की सजा दी गयी तथा खास इलाकों में बसाया गया। पेरिस कुल मिलाकर अपने लगभग एक लाख बेटे-बेटियों से हाथ धो बैठा, जिनमें सारे व्यवसायों के सर्वोत्तम मजदूर भी थे।

बुर्जुआ वर्ग को संतोष हो गया। "अब हमने समाजवाद को लंबे अर्से के लिए ठिकाने लगा दिया है," उसके नेता, रक्तपिपासु बौना थियेर ख़ून की नदी बहाने के बाद बोले, जिसमें उन्होंने तथा उनके जनरलों ने पेरिस के सर्वहारा वर्ग को डुबो दिया था। परंतु इन बुर्जुआ कौओं ने व्यर्थ ही कांय-कांय की। कम्यून के कुचले जाने के बाद कोई छः साल के भीतर ही, जब कम्यून के अनेक सिपाही अभी जेलों में या निर्वासन में यंत्रणा भुगत रहे थे, फ़्रांस में एक नया मजदूर आंदोलन उठा खड़ा हुआ। अपने पूर्ववर्तियों के अनुभव से समृद्ध, लेकिन उनकी पराजय से लेशमात्र निरुत्साहित न होनेवाली एक नयी समाजवादी पीढ़ी ने उस झंडे को उठा लिया, जो कम्यून के सिपाहियों के हाथ से नीचे गिर गया था। उसने उस झंडे को विश्वासपूर्वक पकड़ा और वह "सामाजिक क्रान्ति ज़िन्दाबाद! कम्यून जिंदाबाद!" का सिंहनाद करते हुए साहसपूर्वक आगे बढ़ी। और कुछेक साल बाद नयी मज़दूर पार्टी तथा उस द्वारा पूरे देश में शुरू किये गये आंदोलन ने कम्यूनवालों को, जो अब भी सरकार के हाथों में थे, रिहा करने के लिए सत्ताधारी वर्गों को विवश किया।

कम्यून के सिपाहियों का स्मरण करते हुए उनका फ़्रांस के मज़दूर ही नहीं, अपितु पूरे संसार के सर्वहारा सम्मान करते हैं। इसलिए कि कम्यून ने किसी स्थानीय अथवा संकीर्ण राष्ट्रीय कार्यभार के लिए नहीं, अपितु पूरी मेहनतकश मानवजाति, समस्त पद-दलितों तथा उत्पीड़ितों की मुक्ति के लिए लड़ाई की थी। सामाजिक क्रान्ति के लिए सबसे अग्रगामी योद्धा के रूप में कम्यून ने वहां सर्वत्र सहानुभूति प्राप्त की है, जहां कहीं दुख झेलता तथा संघर्ष करता सर्वहारा वर्ग है। उसका जीवन-मरण, मज़दूरों की सरकार, जिसने दुनिया की राजधानी को छीनकर दो माह से ऊपर अपने हाथों में रखा, सर्वहारा का वीरतापूर्ण संघर्ष तथा अपनी पराजय के बाद उस द्वारा झेली गयी यंत्रणाएं—इन सबने लाखों-लाख मज़दूरों के मन को तरंगित किया, उनमें आशा जगाायी तथा समाजवाद के लिए उनकी सहानुभूति अर्जित की। पेरिस में तोपों की गर्जन ने सर्वहारा वर्ग की सबसे पिछड़ी श्रेणियों को गहरी नींद से जगाया तथा क्रान्तिकारी-समाजवादी प्रचार की संवृद्धि को संवेग प्रदान किया। इसी कारण कम्यून का ध्येय मरा नहीं; वह आज तक हममें से प्रत्येक में जीवित है।

कम्यून का ध्येय—यह सामाजिक क्रान्ति का ध्येय, मेहनतकशों की पूर्ण राजनीतिक तथा आर्थिक मुक्ति का ध्येय है, यह पूरी दुनिया के सर्वहारा वर्ग का ध्येय है। और इस अर्थ में वह अमर है।"

15(28) अप्रैल, 1911 को प्रकाशित

"पूँजीवादी समाज एक भयानक ज्वालामुखी के मुंह पर बैठकर रंगरेलियां मना रहा है"

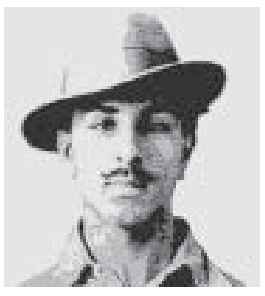

"यह भयानक असमानता और जबर्दस्ती लादा गया भेदभाव दुनिया को एक बहुत बड़ी उथल-पुथल की ओर लिये जा रहा है। यह स्थिति अधिक दिनों तक कायम नहीं रह सकती। स्पष्ट है कि आज का धनिक समाज एक भयानक ज्वालामुखी के मुंह पर बैठकर रंगरेलियां मना रहा है और शोषकों के मासूम बच्चे तथा करोड़ों शोषित लोग एक भयानक खड्ड की कगार पर चल रहे हैं।"

... ...

"क्रान्ति से हमारा मतलब अन्ततोगत्वा एक ऐसी समाज-व्यवस्था की स्थापना से है जो इस प्रकार के संकटों से बरी होगी और जिसमें सर्वहारा वर्ग का आधिपत्य सर्वमान्य होगा। और जिसके फलस्वरूप स्थापित होने वाला विश्व-संघ पीड़ित मानवता को पूँजीवाद के बन्धनों से और साम्राज्यवादी युद्ध की तबाही से छुटकारा दिलाने में समर्थ हो सकेगा।"

नारी सभा

अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस (8मार्च) के अवसर पर

'स्त्रियों को राजनीति में खींचना होगा!'

अक्टूबर 1917 में रूस के मज़दूर वर्ग द्वारा राजनीतिक सत्ता अपने हाथों में लेने और सोवियत सत्ता के निर्माण के बाद पड़ने वाले पहले अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस 8 मार्च के अवसर पर भाषण देते हुए लेनिन ने कहा था, *"...स्त्रियों को राजनीति में खींचे बिना जनता को राजनीति में नहीं खींचा जा सकता, क्योंकि मानवजाति की आधी स्त्री-आबादी पूँजीवाद के तहत दुगुनी उत्पीड़ित है। मज़दूर और किसान औरतें पूँजी द्वारा उत्पीड़ित होती हैं और उसके अलावा सर्वाधिक जनवादी जनतंत्रों में भी एक तो उन्हें निचले दर्जे की स्थिति प्राप्त है, क्योंकि क़ानून उनको पुरुषों के साथ समानता नहीं देता और दूसरे, जो सर्वप्रमुख बात है, वे "घरेलू गुलामी" में फँसी रहती हैं, वे घरेलू गुलाम हैं, रसोईघर के सर्वाधिक तुच्छ, सर्वाधिक रुचिहीन, सर्वाधिक कठोर तथा सर्वाधिक उबाऊ काम में और घरेलू, पारिवारिक ख़र्च-वर्च में उलझकर वे पिस जाती हैं।"*

आज भारतीय समाज में देश की आधी आबादी–स्त्रियों की आबादी –इस दोहरी गुलामी की ज़ंजीरों में जकड़ी हुई है। भूमण्डलीकरण के इस दौर में, स्त्रियाँ पूँजीपतियों के लिए श्रम की मण्डी में बिकने वाली सस्ती माल हैं। जैसे-जैसे विज्ञान और तकनोलाजी उन्नत होती गयी है पूँजीवाद के लिए स्त्रियाँ और बच्चे श्रमशक्ति का सबसे सस्ता स्रोत बन चुकी हैं। सिले-सिलाये कपड़ों का निर्यात करने वाली कम्पनियों, सूचना-तकनोलॉजी क्षेत्र में, और अनेक ऐसे उद्योगों में जहाँ अधिकतम यंत्रीकरण और श्रम विभाजन है पूँजीपति स्त्रियों को प्राथमिकता में काम पर रखते हैं। हमारा सामाजिक ढाँचा स्त्रियों को लम्बे समय तक बिना-चूँपड़ किये एक जैसे नीरस और उबाऊ काम करने की ट्रेनिंग बचपन से ही देता रहता है। यह सामाजिक ट्रेनिंग आज पूँजीपतियों का मुनाफ़ा बढ़ाने के काम आ रही है।

दूसरी ओर, 'घरेलू गुलामी,' जिसका इतिहास हज़ारों साल पुराना है, जबसे निजी सम्पत्ति पैदा हुई, आज भी जस-की-तस बनी हुई है। कामकाजी महिलाएँ ख़ास तौर पर घर और बाहर की दोहरी गुलामी के नीचे पिस रही हैं। वे अपने अनुभवों से इस बात को समझ रही हैं कि निजी सम्पत्ति पर टिके पूँजीवादी समाज में केवल व्यक्तिगत धरातल पर आर्थिक रूप से स्वतंत्र होकर वे पुरुष सत्ता की गुलामी से मुक्त नहीं हो सकतीं। फिर रास्ता क्या है?

मुक्ति के रास्ते अकेले में नहीं मिलते! सवाल चाहे पूँजी की गुलामी से मुक्ति का हो या "घरेलू गुलामी" से, स्त्रियों को इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए वर्गीय एकजुटता की धुरी कायम करनी होगी–पूँजी की सत्ता के खिलाफ सभी मेहनतकश स्त्रियों-पुरुषों की वर्गीय एकजुटता। इस वर्गीय धुरी के इर्द-गिर्द खड़े पूँजी विरोधी संघर्ष से अलग स्त्री मुक्ति की कोई परियोजना नहीं हो सकती। अगर वर्ग संघर्ष की यह मजबूत धुरी बनती है तो फिर एक समुदाय के रूप में स्त्री अस्मिता और स्त्री की मानवीय गरिमा की बहाली की जो स्वतंत्र लड़ाई है, वह भी आगे बढ़गी। इसी रास्ते पर चलते हुए रूस और चीन की स्त्रियों ने अपनी सच्ची आज़ादी की राह पर आगे क़दम बढ़ाये थे। इन देशों में मज़दूर क्रान्तियों के बाद स्त्रियों को आज़ादी की जो नयी सुबह दिखायी थी, वह इसीलिए सम्भव हो सकी थी कि वहाँ मेहनतकश स्त्रियाँ पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ी थीं।

अगर इतिहास पर नज़र दौड़ायी जाये तो उत्पीड़ितों का ऐसा कोई महान संघर्ष नहीं हुआ जिसमें कामगार महिलाओं की शिरकत न हुई हो। हमारे देश के राष्ट्रीय आन्दोलन में भी महिलाओं की अच्छी-खासी संख्या में भागीदारी रही है। स्तालिन ने कहा है कि मज़दूर और किसान मेहनतकश महिलाएँ मज़दूर वर्ग की सबसे बड़ी आरक्षित शक्ति हैं। उन्होंने यह भी कहा है कि सर्वहारा आन्दोलन का भविष्य, सर्वहारा क्रान्ति की जीत-हार, सर्वहारा सत्ता की विजय या पराजय इस पर निर्भर है कि महिलाओं की यह 'रिज़र्व' ताक़त मज़दूर वर्ग के पक्ष में खड़ी होगी या उसके खिलाफ़ खड़ी होगी।

जिस तरह सर्वहारा क्रान्ति का भविष्य इस पर निर्भर है कि स्त्रियों की आधी आबादी साथ में खड़ी होती है या नहीं, उसी तरह स्त्री मुक्ति आन्दोलन का भविष्य भी इस बात पर निर्भर करता है कि वह सर्वहारा क्रान्ति के साथ जुड़ता है या नहीं। स्त्री मुक्ति आन्दोलन और सर्वहारा आन्दोलन के इस रिश्ते को अच्छी तरह समझ लेना आज इसलिए ज़रूरी है क्योंकि पूँजीवादी नारीवादी आन्दोलन इस रिश्ते की समझ को तरह-तरह से धुँधला बनाने की कोशिश करता है। इस नारीवादी आन्दोलन की आज नयी-नयी शाखाएँ-प्रशाखाएँ निकल आयी हैं जो तरह-तरह से यही साबित करने की कोशिश में जुटी रहती हैं कि समाजवाद में भी स्त्री पूरी तरह आज़ाद नहीं हो पायी थी। इसलिए, स्त्रियों की मुक्ति सर्वहारा क्रान्ति के रास्ते नहीं हो सकती।

पहली बात तो यह कि सच्चा मार्क्सवाद यह कहता ही नहीं कि समाजवाद आ जाने मात्र से स्त्री पूरी तरह मुक्त हो जायेगी। समाजवाद की आरम्भिक मंजिलों में तो स्त्री मुक्ति की दिशा में केवल शुरुआती क़दम उठाये जा सकते हैं। पहला क़दम यह उठाया जाता है कि क़ानून के समक्ष स्त्रियों और पुरुषों की गैरबराबरी के हर निशान को मिटा दिया जाता है। सोवियत सत्ता ने "शादी तथा परिवार सम्बन्धी अधिकारों और बच्चों के साथ सम्बन्धों के मामले में नितान्त घृणित, नीच और पाखण्डपूर्ण असमानता" ख़त्म कर दी थी।

इस सम्बन्ध में लेनिन ने लिखा था, "यह स्त्रियों की मुक्ति की दिशा में महज पहला क़दम है। परन्तु किसी एक भी पूँजीवादी जनतंत्र ने, चाहे वह कितना भी जनवादी क्यों न हो, यह पहला कदम तक उठाने का साहस नही किया; इस भय से कि कहीं उसकी निजी सम्पत्ति" का पवित्र अधिकार खो न जाये।

दूसरा मुख्य कदम ज़मीनों, फैक्टरियों और मिलों पर निजी स्वामित्व ख़त्म कर देना है। केवल यही एकमात्र साधन है जिससे स्त्री जाति की पूर्ण तथा वास्तविक मुक्ति का रास्ता साफ़ हो सकता है और वह तुच्छ, अलग घरेलू अर्थव्यवस्था से विशाल सामाजिक अर्थव्यवस्था में पहुँचकर "घरेलू गुलामी" से आज़ाद हो सकती है।"

घरेलू अर्थव्यवस्था की गुलामी से स्त्री को आज़ाद करने के लिएसामाजिक श्रम में उनकी व्यापक भागीदारी सुनिश्चित करने के अलावा समाजवाद में व्यापक स्तर पर नयी-नयी सामाजिक संस्थाओं का निर्माण भी किया जता है। व्यापक स्तर पर सामूहिक भोजनालय स्थापित किये जाते हैं और बच्चों के पालन-पोषण के लिए सामूहिक पालनाघर भी बनाये जाते हैं जिससे स्त्रियाँ घर-गृहस्थी के झंझट और बच्चों की परिवरिश के उलझाव से बाहर निकलकर सामाजिक उत्पादन में अपनी भागीदारी बढ़ा सकें और अपनी आत्मिक उन्नति के लिए भी पर्याप्त अवसर निकाल सकें।

लेकिन ये सारे उपाय आरम्भिक बुनियादी क़दम ही होते हैं। अभी स्त्री मुक्ति का वास्तविक लक्ष्य काफ़ी दूर है। पुरुष वर्चस्ववादी मूल्यों-मान्याताओं-संस्थाओं की व्यापक और बारीक गुलामियों से मुक्ति का रास्ता तो अभी काफी लम्बा होता है। लेनिन ने इस सम्बन्ध में लिखा, "संक्रमण कठिन है, क्योंकि यह काम है सबसे गहरे जड़ जमाये हुई, आदत बन चुकी, जड़ीभूत, कठोर "व्यवस्था" (सच तो यह है कि यह "व्यवस्था" नहीं बर्बरता तथा कुरूपता है) के पुनर्निर्माण का ।"

इस नयी "व्यवस्था" के निर्माण की दिशा में संक्रमण की समस्या समूचे समाजवादी संक्रमण की समस्या है। सोवियत संघ में समाजवाद की स्थापना और 1956 के बाद पूँजीवादी पुनर्स्थापना के अनुभवों का सार-संकलन करते हुए ही चीन की कम्युनिस्ट पार्टी माओ त्से-तुङ के नेतृत्व में महान सर्वहारा संस्कृतिक क्रान्ति के निष्कर्षों तक पहुँची थी। समाजवाद के अन्तर्गत भी स्त्री की वास्तविक मुक्ति का संघर्ष एक नहीं दर्जनों सांस्कृतिक क्रान्तियों के सिलसिले से होकर गुज़रेगा। समाजवाद द्वारा उपलब्ध करायी गयी मज़बूत जमीन पर खड़े होकर आधी आबादी को अपने इंसानी वजूद, पहचान और इंसानी गरिमा की लम्बी लड़ाई लड़नी होगी क्योंकि पुरुष सत्ता आसानी से अपना आसन नहीं छोड़ेगी। संघर्ष के नये-नये बारीक, मनोवैज्ञानिक रूप जन्म लेंगे जिनके बारे में आज कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसी संघर्ष की प्रक्रिया में स्वयं पुरुष आबादी भी शासक और स्वामी होने की अमानवीयता से मुक्त होकर सच्चा इंसान बनेगी।

इस महान लक्ष्य तक पहुँचने के लिए आवश्यक है कि आज क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन में भारी संख्या में मेहनतकश स्त्रियों को खींचा जाये, उन्हें जागरूक, गोलबन्द और संगठित करने के काम को तेज़ किया जाये।

शहीदे आज़म भगत सिंह, राजगुरु और शुखदेव के 77वें शहादत दिवस (23 मार्च) के अवसर पर

"वर्गों के बीच कोई मेल–मिलाप नहीं हो सकता"

शहीदे आज़म भगत सिंह ही वह व्यक्ति थे जिन्होंने भारत के क्रान्तिकारी आन्दोलन में समाजवाद और मज़दूर क्रान्ति के विचार को स्थापित किया। उन्होंने एक ऐसी आज़ादी का सपना देखा था जिसमें सत्ता पूँजीपतियों के चाकरों के नहीं बल्कि मज़दूर-किसानों के हाथों में होगी। उन्होंने साफ कहा था कि इस देश के मज़दूरों और किसानों के लिए इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ेगा कि आज़ादी के बाद लार्ड रीडिंग तथा लार्ड इरविन के स्थान पर सेठ पुरुषोत्तम दास या बिड़लाजी आ जायें।

जेल में तैयार किये गये 'क्रान्तिकारी कार्यक्रम का मसविदा' में भगत सिंह ने लिखाथा, "भारतीय पूँजीपति भारतीय जनता को धोखा देकर विदेशी पूँजी से विश्वासघात की कीमत के रूप में सरकार में कुछ हिस्सा प्राप्त करना चाहते हैं। इसी कारण मेहनतकश की तमाम आशाएं अब सिर्फ समाजवाद पर टिकी हैं और सिर्फ यही पूर्ण स्वराज्य और सब भेदभाव खत्म करने में सहायक साबित हो सकता है।"

भगत सिंह ने असेम्बली में बम फेंकने के लिए खासतौर पर वह दिन चुना था जिस दिन ब्रिटिश सरकार सार्वजनिक सुरक्षा विधेयक तथा औद्योगिक विवाद विधेयक पेश करने जा रही थी जिनका उद्देश्य स्वतंत्रता आन्दोलन तथा खासकर मज़दूरों के बढ़ते संघर्षों का दमन करना था।

जेल में लिखे गए अनेक लेखों और अदालत में अपने बयानों में भगत सिंह ने इस बात को जोरदार तरीके से उठाया कि व्यापक मज़दूर-किसान आबादी को एक क्रान्तिकारी पार्टी के माध्यम से संगठित करके ही ऐसा इंकलाब लाया जा सकता है जो देश से शोषण-उत्पीड़न का खात्मा कर देगा। मज़दूर आन्दोलन में फैले गलत विचारों पर चोट करते हुये उन्होने कहा था : "मज़दूर आन्दोलन में ऐसे व्यक्ति हैं जो मज़दूरों और किसानों की आर्थिक और राजनीतिक स्वतंत्रता के बारे में बड़े विचित्र विचार रखते हैं। ये लोग उत्तेजना फैलाने वाले या बौखलाये हुये हैं। हमारा मतलब जनता की आर्थिक स्वतंत्रता से है और इसी के लिए हम राजनीतिक ताकत हासिल करना चाहते हैं। शुरू में छोटी-बड़ी आर्थिक माँगों और इन वर्गों के विशेष अधिकारों के लिए हमें लड़ना होगा। यह संघर्ष उन्हें राजनीतिक ताकत हासिल करने के लिए अन्तिम संघर्ष के लिए सचेत व तैयार करेगा।" दस वर्ष पहले ही हिन्दी में पहली बार प्रकाशित हुई भगतसिंह की ऐतिहासिक जेल नोटबुक इस बात का साक्ष्य है कि भगतसिंह अपने अन्तिम दिनों तक इस देश में क्रान्तिकारी आन्दोलन की वैचारिक समस्याओं से जूझ रहे थे। उन्होंने इस बात पर बेहद ज़ोर दिया कि भारतीय क्रान्ति का वैचारिक पहलू कमजोर रहा है और इस देश की ठोस सच्चाइयों और वैज्ञानिक समाजवादी विचारधारा का गहराई से अध्ययन किये बिना जनता के संघर्षों को सही दिशा नहीं दी जा सकती। यह नोटबुक फिर इस बात का अहसास कराती है कि अगर सिर्फ 23 वर्ष की उम्र में भगतसिंह को फाँसी न हुई होती तो राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष और भारतीय सर्वहारा क्रान्ति का इतिहास कुछ और ही ढंग से लिखा जाता।

इतिहास की इस धरोहर से एक उद्धरण प्रस्तुत है :

"सुधरी हुई राजनीतिक संस्थाएं, पूँजी और श्रम के बीच समझौता कराने वाली परिषदें, परोपकार और विशषाधिकार जो पूँजीपतियों की खैरातों के अलावा और कुछ नहीं हैं–इनमें से कोई भी चीज उस सवाल का जवाब नहीं दे सकती जो मंदिरों, सत्ता के सिंहासनों और संसदों को कंपकंपा रहा है। जो लोग दबे-कुचले हैं और जो उनकी पीठ पर सवार होकर आगे बढ़े हुए हैं, अब इन दोनों के बीच कोई अमन-चैन नहीं रह सकता। अब वर्गों के बीच कोई मेल-मिलाप नहीं हो सकता, अब तो वर्गों का सिर्फ अन्त ही हो सकता है। जब तक पहले न्याय न हो, तब तक सद्भावना की बात करना अनर्गल प्रलाप है, और जब तक इस दुनिया का निर्माण करने वालों का अपनी मेहनत पर अधिकार न हो, तब तक न्याय की बात करना बेकार है।"

"...हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य को समाप्त करने का एक तरीका है कि ग्राम-संगठन के कार्य को हाथ में लेकर बिना भेदभाव के भारत के दीन किसानों की सेवा की जाये। उसी तरह शहर के मिलों में काम करने वाले लाखों मज़दूरों के संगठनों की भी आवश्यकता है। किसानों और मज़दूरों का युग आ गया है। थोथी राजनीति से अब काम नहीं चलेगा।"

–साम्प्रदायिक दंगों की आग बुझाते शहीद हुए महान पत्रकार गणेश शंकर विद्यार्थी के बलिदान दिवस (25 मार्च के अवसर पर)

दुनिया के मज़दूरों के क्रान्तिकारी नेता और शिक्षक जोसेफ स्तालिन की 55वीं पुण्यतिथि (6 मार्च) के अवसर पर

द्वितीय विश्व युद्ध में हिटलर को दरअसल किसने हराया?

स्तालिनग्राद की गलियों में लड़ने वाले लाल योद्धाओं ने!

दुनिया का पूँजीवादी मीडिया एक ओर नये-नये मनगढ़न्त किस्सों का प्रचार कर मज़दूर वर्ग के महान नेताओं के चरित्र हनन में जुटा रहता है वहीं दूसरी ओर नये-नये झूठ गढ़कर उसके महान संघर्षों के इतिहास की सच्चाइयों को भी उसके नीचे दबा देने की कवायदें भी जारी रहती हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बारे में भी तरह-तरह के झूठ का प्रचार लगातार जारी रहता है। इतिहास की किताबों में भी यह सच्चाई नहीं उभर पाती कि मानवता के दुश्मन, नाजीवादी जल्लाद हिटलर को दरअसल किसने हराया?

अमेरिकी और ब्रिटिश मीडिया ख़ास तौर पर इस झूठ का बार-बार प्रचार करता है कि उनकी फौजों ने हिटलर को मात दी। इस झूठ को सच साबित करने के लिए वे उस तथाकथित 'कयामत के दिन' (डी-डे) 6 जून 1944 का बार-बार प्रचार करते हैं जब एक लाख पचास हज़ार की तादाद में ब्रिटिश-अमेरिकी सेनाएँ हिटलर की सेनाओं से लड़ने के लिए नारमैंडी (फ्रांस) में उतरी थीं। जोर-शोर से प्रचार यह किया जाता है कि इसी आक्रमण से यूरोप में द्वितीय विश्व युद्ध का पासा पलट गया था। जबकि सच्चाई यह है कि उस युद्ध का मुख्य मोड़बिन्दु तो वोल्गा नदी के किनारे बसे हुए एक रूसी शहर से आया था। 1942 में स्तालिनग्राद शहर की गलियों में 80 दिन और 80 रात जो लड़ाई चली, तत्कालीन सोवियत संघ के लाल सैनिकों और मज़दूरों ने परम्परागत देशी हथियारों से आधुनिकतम मानी जाने वाली जर्मन नाजी सेना का जिस तरह मुकाबला किया, वह विश्वयुद्ध का ऐतिहासिक मोड़बिन्दु था। यह कहानी विश्व इतिहास की एक महाकाव्यात्मक संघर्ष गाथा है जिसे दुनिया की मेहनतकश जनता की यादों से मिटा देने की कोशिशें दिन-रात चलती रहती हैं।

आज विश्व सर्वहारा क्रान्ति के इस नये चक्र में, जबकि नयी क्रान्तियों की तैयारियों का काल लम्बा खिंचता जा रहा है, यह बेहद ज़रूरी है कि नयी पीढ़ी के मेहनतकशों को अतीत के महान संघर्षों की विरासत और उपलब्धियों से लगातार परिचित कराते रहा जाये। यह नये सर्वहरा पुनर्जागरण और प्रबोधन का एक ज़रूरी कार्यभार है। अन्तरराष्ट्रीय मज़दूर वर्ग के महान शिक्षक और नेता स्तालिन की पचपनवीं पुण्यतिथि के अवसर पर हम बिगुल के पाठकों के लिए दो अंकों में समाप्त होने वाली यह विशेष सामग्री दे रहे हैं जिससे पाठक यह सच्चाई जान सकें कि हिटलर को दरअसल किसने हराया!–सम्पादक

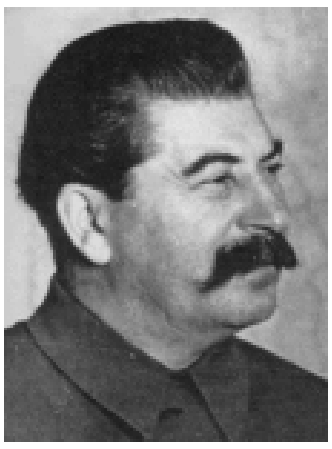

जोसेफ़ स्तालिन

पहाड़ की चोटी पर बैठकर शेरों की लड़ाई देखना

22 जून, 1941 को एडोल्फ हिटलर की नाजी जर्मनी ने ऐतिहासिक रूप से एक सबसे बड़ी सेना के साथ सोवियत संघ पर आक्रमण कर दिया। हिटलर को विश्वास था कि वह सोवियत संघ को तीन महीनों में परास्त कर देगा। दुनिया के अधिकतर सैन्य और राजनीतिक विशेषज्ञों की भी यही राय थी।

सोवियत संघ पर हमला करने वाली जर्मन सेनाएं दुनिया की सबसे आधुनिक सैनिक शक्ति थीं। नाजियों की आक्रमणकारी शक्ति तीस लाख फौजियों, 3,300 टैंकों और 7,000 बड़ी तोपों की थी, जिनकी मदद में 2000 विमान थे। जर्मन साम्राज्यवादी सेनाओं ने मात्र दो ही वर्षों में एक-एक करके यूरोप के कई देश–चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, फ्रांस, बेल्जियम, हालैण्ड, डेनमार्क और नार्वे–दनादन जीत लिए थे।

1941 तक, सोवियत संघ को, साम्राज्यवादियों द्वारा किये गये पिछले आक्रमण के बाद से, शान्ति के मात्र बीस वर्ष ही मिल पाये थे। कम्युनिस्ट पार्टी और जोसेफ स्तालिन के नेतृत्व के अन्तर्गत ये दो दशक भी वर्ग-संघर्ष और समाजवादी निर्माण के कठिन वर्ष रहे थे। लेकिन, 1941 तक, तत्कालीन सोवियत संघ महत्वपूर्ण समस्याओं के बावजूद एक सच्चा क्रान्तिकारी और समाजवादी देश बन चुका था। सोवियत क्रान्ति ने मजदूर वर्ग की सत्ता स्थापित कर दी थी, सम्पत्तिवान वर्गों के वर्ग-विशेषाधिकारों और ऐश्वर्य को समाप्त कर दिया था, तथा एक तरफ जहां उद्योग के सम्पूर्ण ढाचे और स्वामित्व को रूपान्तरित कर दिया था, वहीं दूसरी तरफ, विश्व की प्रथम योजनाबद्ध समाजवादी अर्थव्यवस्था और सामूहिक खेती को भी अंजाम दे दिया था। इस दौरान वर्ग-संघर्ष अत्यधिक कठोर था, जो कभी-कभी स्वयं सोवियत संघ के भीतर ही गृहयुद्ध जैसा उग्र हो उठता था।

यद्यपि सोवियत सेना विशाल थी, फिर भी उतनी सुसज्जित नहीं थी जितनी कि जर्मन सेना। सोवियत सेना के ऊँचे अधिकरियों की एक भारी संख्या, 1930 के दशक के अन्त के तीखे राजनीतिक विवादों के चलते, निकाल बाहर कर दी गयी थी और उनके स्थान पर अधिकारियों की एक ऐसी पीढ़ी नियुक्त की गयी थी जो अभी नयी थी, बिना जाँची-परखी थी।

संक्षेप में कहें तो, पश्चिमी विशेषज्ञों को यह विश्वास था कि स्तालिन का सोवियत संघ एक गम्भीर रूप से विभाजित देश था जिसकी सेना बुरी तरह से कमजोर हो चुकी थी। उन्हें यह आशा ही नहीं थी कि सोवियत संघ जर्मनी को हरा सकेगा!

वस्तुतः अमेरिकी और ब्रिटिश साम्राज्यवादी तो यह उम्मीद लगाये बैठे थे कि सोवियत संघ पूर्वी मोर्चे पर जर्मन सेना से टक्कर होते ही खत्म हो जायेगा। और जब हिटलर की सेना ने सोवियत संघ पर धावा बोला तो उन्होंने यूरोप में एक दूसरा मोर्चा खोलने में देरी कर दी। अमेरिका और ब्रिटेन की इस योजना को माओ ने कहा कि यह "पहाड़ की चोटी पर बैठकर नीचे शेरों की लड़ाई देखना" था।

हिटलर और पश्चिमी शक्तियों–दोनों ने ही सोवियत समाजवाद की सामर्थ्य को बेहद कम करके आंका था। अकूत आत्म-बलिदान के साथ, सोवियत जनता ने नाजी हमलावरों का मुकाबला करने के लिए एक महान न्यायोचित युद्ध संगठित किया। नदी के किनारे बसे स्तालिनग्राद नामक एक औद्योगिक नगर में एडोल्फ हिटलर की तथाकथित "अपराजेय" सेनाएं दृढ़निश्चयी लाल योद्धाओं से सीधे जा भिड़ी थीं।

आज, जब दुनिया के शासक यह दावा करते हैं कि "कम्युनिज़्म मर चुका है", और कि "समाजवाद के सारे प्रयास विफल हो चुके है"–तब यह बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है कि स्तालिनग्राद के 1942 के सबकों को याद किया जाये–जहाँ 80 दिन और 80 रात घर-घर में चली लड़ाई ने समाजवाद की श्रेष्ठता और एक सशस्त्र क्रान्तिकारी जनता की शक्ति को प्रमाणित कर दिया था।

तड़ित युद्ध का साम्राज्यवादी तर्क

सोवियत संघ पर जर्मनी का हमला ब्लिट्ज़क्रीग की रणनीति पर आधारित था, जिसका अर्थ है "तड़ित युद्ध–बिजली की कड़क के समान तेज़ रफ्तार से धावा बोलना"। ब्लिट्ज़क्रीग का उद्देश्य त्वरित विजय प्राप्त कर लेना था जिससे कि जर्मन जनता के बीच अन्तर्द्वन्द्व तीखे न हो पायें। आक्रमण का उद्देश्य था मज़दूर वर्ग के समाजवादी शासन को उखाड़ फेंकना, सोवियत जनता को गुलाम बनाना, तथा विश्व क्रान्ति के इस सबसे महत्वपूर्ण आधार-क्षेत्र को नष्ट कर देना। इन्हीं प्रतिक्रियावादी उद्देश्यों और रणनीतियों ने नाजी सेनाओं को युद्ध में अपनी विजय के लिए अत्यधिक बर्बर तौर तरीके अख्तियार करने के लिए प्रेरित किया।

आक्रमण के ठीक पहले, हिटलर ने जर्मनी के शीर्षस्थ जनरलों से कहा : "रूस के विरुद्ध लड़ाई ऐसी होगी जो एक वीरोचित शैली में संचालित नहीं की जा सकेगी। यह विचारधाराओं और जातीय भिन्नताओं का संघर्ष होगा और इसे अभूतपूर्व निर्दयता और बेहिचक बर्बरता के साथ संचालित करना होगा...। कमिसार (सोवियत लाल सेना के सक्रिय कम्युनिस्ट कार्यकर्ता–सं.) ऐसी विचारधाराओं के वाहक हैं जो (नाजीवाद के) सीधे विराधी हैं। अतः कमिसारों का सफाया कर देना होगा। अन्तरराष्ट्रीय कानून तोड़ने के दोषी जर्मन सैनिकों को ...माफ कर दिया जायेगा।"

नाजियों ने पूरे सोवियत संघ के सभी शहरों को जला डाला और कत्ल कर डाले गये निवासियों की लाशों को बिना दफनाये ही छोड़ दिया। बन्दी बनाये गये सत्तावन लाख सोवियत सैनिकों में से तैंतीस लाख तो भूख, ठंड और प्राणदण्ड के कारण जर्मन जेल शिविरों में ही मर गये। और लगभग तीस लाख सोवियत सैनिकों और असैनिक नागरिकों को जहाजों पर लादकर गुलाम-मज़दूरों के रूप में जर्मनी ले जाया गया।

जनयोद्धाओं ने नाजी रणनीति का प्रतिरोध करना सीखा

आरम्भ में, स्तालिन की लाल सेनाएँ सोवियत संघ के अधिकांश भागों में शिकस्त खाती हुई पीछे हटती रहीं। वे अपने पीछे उदास भाव से अपनी समाजवादी अर्थव्यवस्था के खेतों और रेलमार्गों को नष्ट करती जातीं ताकि हमलावर सेना को कुछ भी मयस्सर न हो सके।

पीछे हटती हुई लाल सेना ने "अपने ढंग" की लड़ाई अर्थात जर्मन सेना की गतिशीलता और सामर्थ्य का प्रतिरोध करने की लड़ाई के तौर-तरीके विकसित किये। कम्युनिस्ट पार्टी ने जन समुदायों को एक जीवन-मरण के संघर्ष में, "सिर्फ सोवियत जनता के लिए ही नहीं, बल्कि फासीवादी उत्पीड़न के तले कराह रहे सभी लोगों की मुक्ति के लिए लामबन्द किया।

कम्युनिस्टों ने सुदूर जंगलों में ऐसी छापामार सेनाएं गठित कर लीं, जो हमलावरों को हर जगह परेशान करतीं। सोवियत सैनिकों ने टैंकों के मुकाबले ग्रेनेडों और मोलोतोव कॉकटेलों जैसे "जनता के हथियार" इस्तेमाल करना सीखा। सारी फैक्टरियों को हटाकर सुदूर साइबेरिया में स्थानान्तरित कर दिया गया, ताकि दुश्मन की पहुँच से बाहर रहकर वे उत्पादन जारी रख सकें। लेनिनग्राद और मास्को जैसे शहर सैन्य दुर्गों में तब्दील कर दिये गये।

(अगले अंक में जारी)

"क़यामत के दिन का मिथक"

अमेरिकी सरकार हर वर्ष 'डी डे' (क़यामत के दिन) वर्षगाँठ यह मिथक प्रचारित करने के लिए करती है कि "अमेरिकी सेना और एक विश्वव्यापी गठबंधन का अमेरिकी नेतृत्व ही दुनिया को हिटलर को दृष्टता से मुक्ति दिलाने की कुंजी थे!" यह आज दुनिया में उनके अमेरिकी हस्तक्षेपों का समर्थन करने के लिए लोगों को तैयार करने का एक हथकण्डा है।

लेकिन सच्चाई कुछ और ही है :

1. द्वितीय विश्वयुद्ध में, सोवियत लाल सेना दुनिया के प्रथम समाजवादी समाज की रक्षा मे एक न्यायोचित, नाजी-विरोधी युद्ध लड़ रही थी, जबकि अमेरिकी सेनाएं यह सुरक्षित कर लेने के लिए लड़ रही थीं कि युद्धोत्तर विश्व में मचने वाली नोच-खसोट में अमेरिकी पूँजीवाद सबसे फायदे की स्थिति में रहे। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद, अमेरिका तुरन्त ही यूनान, कोरिया, वियतनाम, फिलीपिन्स और कई दूसरे देशों में चल रहे क्रान्तिकारी आन्दोलनों के विरुद्ध युद्धों में कूद पड़ा–जबकि जर्मनी के अधिग्रहीत कर लिए गये अमेरिका-प्रशासित भागों में अमेरिकी सत्ताधारी पूर्व नाजी सत्ता को फिर से बहाल करने में लग गये। इसके विपरीत समाजवादी सोवियत संघ हमारी सदी की दूसरी महान क्रान्ति-माओ त्से तुंङ के नेतृत्व वाली 1949 की चीनी क्रान्ति के लिए एक महत्वपूर्ण पृष्ठभूमि बना गया।

2. हिटलर की सेनाएँ मूलतः पूर्वी मोर्चे पर–सोवियत संघ के मैदानी भागों और घिरे शहरों में–ही पराजित कर दी गयी थी। डी-डे आक्रमण तो स्तालिनग्राद में नाजी आक्रमण के उच्च ज्वार के ध्वस्त कर दिये जाने के डेढ़ साल बाद ही शुरू किया गया। इस तथाकथित डी-डे की जर्मन कमान की 259 डिवीजनों और ब्रिगेडें तो पूर्वी मोर्चे पर लाल सेना का सामना कर रही थीं। हिटलर ने उन डिवीजनों में से मात्र 60 डिवीजनों को नये पश्चिमी मोर्चे पर एंग्लो-अमेरिकी सेनाओं से निपटने के लिए भेजा था। आइज़नहावर के डी-डे आक्रमण का मुकाबला करने वाली जर्मन फौज में मुख्यतः अधेड़ वय के सैनिक, किशोर वय के लड़के एवं बलात पकड़कर भेज दिये गये पूर्वी यूरोपियन ही थे। यह तो लाल सेना ही थी जिसने जर्मन सेनाओं के बहुलांश को तहस-नहस किया, और बर्लिन पर कब्जा किया।

3.नॉरमैंडी में अमेरिका के उतरने का मुख्य कारण पूरे पूर्वी यूरोप में पूँजीवाद के विरुद्ध एक क्रान्ति की मुहिम छेड़ देने के लिए आगे बढ़ रही लाल सेना को रोकना था। जर्मनी और सोवियत संघ के बीच चले पूरे युद्ध के दौरान, अमेरिका और ब्रिटेन, पश्चिमी यूरोप में, एक दूसरा मोर्चा खोलने से इंकार ही करते रहे थे। जब उन्हें यह मालूम पड़ने लगा कि अब तो सोवियत संघ अकेले ही जर्मनी को हरा देगा, तब उन्होंने डी-डे आक्रमण के साथ दूसरा मोर्चा खोला। एक प्रतिक्रियावादी पत्रिका ने कुछ समय पहले लिखा था : "पश्चिमी मित्र राष्ट्रों के सफल नॉरमैंडी आक्रमण के बिना तो सिर्फ बर्लिन और वियना ही नहीं बल्कि पेरिस पर भी लाल झण्डा कभी का लहरा चुका होता।"

कहानी

कॉमरेड : एक कहानी

मक्सिम गोर्की

इस शहर की प्रत्येक वस्तु बड़ी अद्भुत और बड़ी दुर्बोध थी। इसमें बने हुए बहुत-से गिरजाघरों के विभिन्न रंगों के गुम्बद आकाश की ओर सिर उठाये खड़े थे परन्तु कारख़ानों की दीवारें और चिमनियाँ इन घण्टाघरों से भी ऊँची थीं। गिरजे इन व्यापारिक इमारतों की ऊँची-ऊँची दीवारों से छिपे, पत्थर की उन निर्जीव चहारदीवारियों में इस प्रकार डूबे हुए थे जैसे मिट्टी और मलबे के ढेर में भद्दे, कुरूप फूल खिल रहे हों। और जब गिरजों के घण्टे प्रार्थना के लिए लोगों को बुलाते तो उनकी झनकारती हुई आवाज़ लोहे की छतों से टकराती और मकानों के बीच बनी लम्बी और सँकरी गलियों में खो जाती।

इमारतें विशाल और अपेक्षाकृत कम आकर्षक थीं परन्तु आदमी कुरूप थे। वे सदैव नीचतापूर्ण व्यवहार किया करते थे। सुबह से लेकर रात तक वे भूरे चूहों की तरह शहर की पतली टेढ़ी-मेढ़ी गलियों में इधर-से-उधर भागा करते और अपनी उत्सुक तथा लालची आँखें फाड़े कुछ रोटी के लिए तथा कुछ मनोरंजन के लिए भटकते रहते। इतने पर भी कुछ लोग चौराहों पर खड़े हो, निर्बल मनुष्यों पर यह देखने के लिए द्वेषपूर्ण निगाहें जमाये रहते कि वे सबल व्यक्तियों के सामने नम्रतापूर्वक झुकते हैं या नहीं। सबल व्यक्ति धनवान थे और वहाँ के प्रत्येक प्राणी का यह विश्वास था कि केवल धन ही मनुष्य को शक्ति दे सकता है। वे सब अधिकार के भूखे थे, क्योंकि सब गुलाम थे। धनवानों की विलासिता ग़रीबों के हृदय में द्वेष और घृणा उत्पन्न करती थी। वहाँ किसी भी व्यक्ति के लिए स्वर्ण की झनकार से अधिक सुन्दर और मधुर दूसरा कोई भी संगीत नहीं था और इसी कारण वहाँ का हरेक आदमी दूसरे का दुश्मन बन गया था। सब पर क्रूरता का शासन था।

कभी-कभी सूर्य उस शहर पर चमकता परन्तु वहाँ का जीवन सदैव अन्धकारपूर्ण रहता और मनुष्य छाया की तरह दिखायी देते। रात होने पर वे असंख्य चमकीली बत्तियाँ जलाते परन्तु उस समय भूखी औरतें पैसों के लिए अपना कंकालवत शरीर बेचने को सड़कों पर निकल आतीं। विभिन्न प्रकार के सुगन्धित भोजनों की सुगन्धि उन्हें अपनी ओर खींचती और चारों ओर भूखे मानव की भूखी आँखें, चुपचाप चमकने लगतीं। नगर के ऊपर दुख और विषाद की एक धीमी कराहट, जो ज़ोर से चिल्लाने में असमर्थ थी, प्रतिध्वनित होकर मँडराने लगती।

जीवन नीरस और चिन्ताओं से भरा हुआ था। मानव एक-दूसरे का दुश्मन था और हर इन्सान ग़लत रास्ते पर चल रहा था। केवल कुछ व्यक्ति ही यह अनुभव करते थे कि वे ठीक मार्ग पर हैं परन्तु वे पशुओं की तरह रूखे और क्रूर थे। वे दूसरों से अधिक भयानक और कठोर थे...

हरेक जीना चाहता था परन्तु यह कोई नहीं जानता था कि कैसे जिये। कोई भी अपनी इच्छाओं का अनुसरण स्वतन्त्र रूप से करने में समर्थ नहीं था। भविष्य की ओर बढ़ा हुआ प्रत्येक कदम उन्हें पीछे मुड़कर उस वर्तमान की ओर देखने के लिए बाध्य कर देता था, जो एक लालची राक्षस के शक्तिशाली और क्रूर हाथों द्वारा मनुष्यों को अपने रास्ते पर आगे बढ़ने से रोक देता और अपने चिपचिपे आलिंगन के जाल में फाँस लेता।

मनुष्य जब ज़िन्दगी के चेहरे पर कुरूप दुर्भाग्य की रेखाएँ देखता तो कष्ट और आश्चर्य से विजड़ित हो निस्सहाय के समान ठिठक जाता, ज़िन्दगी उसके हृदय में अपनी हज़ारों उदास और असहाय आँखों से झाँकती, और निशब्द उससे प्रार्थना करती जिसे सुन भविष्य की सुन्दर आकांक्षाएँ उसकी आत्मा में मर जातीं और मनुष्य की नपुंसकता की कराहट, उन दुखी और दीन मनुष्यों की कराह और चीख़-पुकारों के लयहीन संगीत में डूब जाती जो ज़िन्दगी के शिकंजे में पड़े तड़फड़ा रहे थे।

वहाँ सदैव नीरसता और उद्विग्नता तथा कभी-कभी भय का वातावरण छाया रहता और वह अन्धकारपूर्ण अवसाद में लिपटा नगर अपने एक से विद्रोही पत्थरों के ढेर को लिए, जो मन्दिरों को कलंकित कर रहे थे, मनुष्यों को एक कारागृह के समान घेरे तथा सूर्य की किरणों को ऊपर ही ऊपर लौटाते हुए, चुपचाप खड़ा था।

वहाँ जीवन के संगीत में क्रोध और दुख की चीख़, छिपी हुई घृणा की एक धीमी फुसकार, क्रूरता को भयभीत करने वाला कोलाहल और हिंसा की भयंकर पुकार भरी हुई थी।

2

दुख और दुर्भाग्य के अवसादपूर्ण कोलाहल के बीच लालच और इच्छाओं के दृढ़ बन्धन में जकड़े, दयनीय गर्व की कीचड़ में फँसे थोड़े-से एकाकी स्वप्नदृष्टा उन झोंपड़ियों की ओर चुपचाप, छिपकर चले जा रहे थे जहाँ वे निर्धन व्यक्ति रहते थे जिन्होंने नगर की समृद्धि को बढ़ाया था। तिरस्कृत और उपेक्षित होते हुए भी मानव में पूर्ण आस्था रख वे विद्रोह की शिक्षा देते थे। वे दूर प्रज्वलित सत्य की विद्रोही चिनगारियों के समान थे। वे उन झोंपड़ियों में अपने साथ छिपाकर एक सादे परन्तु उच्च सिद्धान्त की शिक्षा के फल देने वाले बीज लाये थे और कभी अपनी आँखों में कठोरता की ठण्डी चमक भरकर और कभी सज्जनता और प्रेम द्वारा उन गुलाम मनुष्यों के हृदय में इस प्रकाशवान प्रज्वलित सत्य की जड़ रोपने का प्रयत्न करते, उन मनुष्यों के हृदय में, जिन्हें क्रूर और लालची व्यक्तियों ने अपने लाभ के लिए अन्धे और गूँगे हथियारों में बदल दिया था।

और ये अभागे, पीड़ित मनुष्य अविश्वासपूर्वक इन नवीन शब्दों के संगीत को सुनते एक ऐसे संगीत को जिसके लिए उनके क्लान्त हृदय युगों से प्रतीक्षा कर रहे थे। धीरे-धीरे उन्होंने अपने सिर उठाये और अपने को उन चालाकी से भरी हुई झूठी बातों के जाल से मुक्त कर लिया जिसने उनके शक्तिशाली और लालची अत्याचारियों ने उन्हें फँसा रखा था।

उनके जीवन में, जिसमें उदासी से भरा हुआ दमित असन्तोष व्याप्त था, उनके हृदयों में जो अनेक अत्याचार सहकर विषाक्त बन चुके थे, उनके मस्तिष्क में जो शक्तिशालियों की धूर्ततापूर्ण चतुरता से जड़ हो गया था—उस कठोर और दीन अस्तित्व में जो भयंकर अत्याचारों से सूख चुका था—एक सीधा सा दीप्तिमान शब्द व्याप्त हो उठा : "कॉमरेड!"

यह शब्द उनके लिए नया नहीं था। उन्होंने इसे सुना था और स्वयं भी इसका उच्चारण किया था। परन्तु तब तक इसमें भी वही रिक्तता और उदासी भरी हुई थी जो ऐसे ही अन्य परिचित और साधारण शब्दों में भरी रहती है जिन्हें भूल जाने से कोई नुकसान नहीं होता।

परन्तु अब इसमें एक नयी झंकार थी...सशक्त और स्पष्ट झंकार। एक नये अर्थ का संगीत व्याप्त था और एक हीरे के समान कठोर चमक और दिगन्तव्यापी ध्वनि थी।

उन्होंने इसे अपनाया और इसका उच्चारण किया. ..सावधानी से, नम्रतापूर्वक और इसे अपने हृदय से इतने स्नेहपूर्वक चिपटा लिया जैसे माता अपने बच्चे को पालने में झुलाती है।

और जैसे-जैसे इस शब्द की जाज्वल्यमान आत्मा के भीतर प्रविष्ट होते गये वह उन्हें उतना ही अधिक उज्ज्वल और सुन्दर दिखायी देता गया।

"कॉमरेड!" उन्होंने कहा।

और उन्होंने अनुभव किया कि यह शब्द सम्पूर्ण संसार को एक सूत्र में संगठित करने के लिए, सब मनुष्यों को आज़ादी की सबसे ऊँची चोटी तक उठा उन्हें नये बन्धनों में बाँधने के लिए—एक दूसरे का सम्मान करने के लिए तथा मनुष्य को स्वतन्त्रता के बन्धन में लिये हुए—इस संसार में आया है।

जब इस शब्द ने गुलामों के हृदय में जड़ जमा ली तब वे गुलाम नहीं रहे और एक दिन उन्होंने शहर और उसके शक्तिशाली शासकों से पुकारकर कहा —

"बस, बहुत हो चुका!"

इससे जीवन रुक गया क्योंकि ये लोग ही अपनी शक्ति से इसका संचालन करते थे—केवल यही लोग, और कोई नहीं। पानी बहना बन्द हो गया, आग बुझ गयी, नगर अन्धकार में डूब गया और शक्तिशाली लोग बच्चों के समान असहाय हो उठे।

अत्याचारियों की आत्मा में भय समा गया। अपने ही मल-मूत्र की दम घोंटने वाली दुर्गन्ध से व्याकुल हो उन्होंने विद्रोहियों के प्रति अपनी घृणा का गला घोंट दिया और उनकी शक्ति को देख किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये।

भूख का पिशाच उनका पीछा करने लगा और उनके बच्चे अन्धकार में आर्त स्वर से रोने लगे।

घर और गिरजे अवसाद में डूब गये और पत्थर और लोहे के क्रूर अट्टहास में घिरी हुई सड़कों पर मृत्यु की-सी भयावनी निस्तब्धता छा गयी। जीवन गतिहीन हो गया क्योंकि जिस शक्ति ने इसे उत्पन्न किया था वह अब अपने अस्तित्व के प्रति सजग हो उठी थी और गुलाम मनुष्य ने अपनी इच्छा को प्रकट करने वाले चमत्कारपूर्ण और अजेय शब्द का पान किया था। उसने अपने को अत्याचार से मुक्त कर अपनी शक्ति को, जो विधाता की शक्ति थी, पहचान लिया था।

शक्तिशालियों के लिए वे दिन दूर न थे क्योंकि वे लोग अपने को इस जीवन का स्वामी समझते थे। वह रात हज़ार रातों के समान थी, दुख के समान गहरी। मुर्दे के समान उस नगर में चमकने वाली बत्तियाँ अत्यन्त धूमिल और अशक्त थीं। वह नगर शताब्दियों के परिश्रम से बना था। वह राक्षस जिसने मनुष्यों का रक्त चूस लिया था अपनी सम्पूर्ण कुरूपता को लेकर उनके सामने खड़ा हो गया था – पत्थर और काठ के एक दयनीय ढेर के समान। मकानों की अँधेरी खिड़कियाँ भूखी और दुखी-सी सड़क की ओर झाँक रही थीं जहाँ जीवन के सच्चे स्वामी हृदय में एक नया उत्साह लिये चल रहे थे। वे भी भूखे थे, वास्तव में दूसरों से अधिक भूखे, परन्तु उनकी यह भूख की वेदना उनकी परिचित थी! उनका शारीरिक कष्ट उन्हें इतना असह्य नहीं था जितना कि जीवन के उन स्वामियों को। न इसने उनकी आत्मा में प्रज्वलित उस ज्वाला को ही कम किया था। वे अपनी शक्ति का परिचय पाकर उत्तेजित हो रहे थे। आने वाली विजय का विश्वास उनकी आँखों में चमक रहा था।

वे नगर की सड़कों पर घूम रहे थे जो उनके लिए एक उदास, दृढ़ कारागृह के समान थीं। जहाँ उनकी आत्मा पर असंख्य चोटें पहुँचायी गयी थीं। उन्होंने अपने परिश्रम के महत्त्व को देखा और इसने उनको जीवन का स्वामी बनने के पवित्र अधिकार के प्रति सजग बना दिया, जीवन के नियम बनाने वाला तथा उसे उत्पन्न करने वाला। और फिर एक नयी शक्ति के साथ, एक चकाचौंध उत्पन्न कर देने वाली चमक के साथ, सबको संगठित करने वाला वह जीवनदायी, शब्द गूँज उठा।

"कॉमरेड!"

यह शब्द वर्तमान के झूठे शब्दों के बीच भविष्य के सुखद सन्देश के समान गूँज उठा, जिसमें एक नया जीवन सबकी प्रतीक्षा कर रहा था। वह जीवन दूर था या पास? उन्होंने महसूस किया कि वे ही इसका निर्णय करेंगे। वे आज़ादी के पास पहुँच रहे थे और वे स्वयं ही उसके आगमन को स्थगित करते जा रहे थे।

3

उस वेश्या ने भी जो कल एक आधे जानवर के समान थी और गन्दी गलियों में थकी हुई इस बात का इन्तज़ार करती रहती थी कि कोई आये और दो पैसे देकर उसके सूखे ठठरी के समान शरीर को ख़रीद ले, उस शब्द को सुना परन्तु मुस्कराते हुए परेशान-सी होकर उसने इसका उच्चारण करने का साहस किया। एक आदमी उसके पास आया, उनमें से एक आदमी जिन्होंने इससे पहले इस रास्ते पर क़दम नहीं रखा था और उससे इस प्रकार बोला जैसे कोई अपने भाई से बोलता है:

"कॉमरेड!" उसने कहा।

वह इस प्रकार मधुरता और लज्जापूर्वक हँसी जिससे अत्यधिक प्रसन्नता के कारण रो न उठे। उसके दुखी हृदय ने इससे पूर्व इतनी प्रसन्नता का अनुभव कभी नहीं किया था। आँसू, एक पवित्र और नवीन सुख के आँसू, उसकी उन आँखों में चमकने लगे जो कल तक पथरायी हुई और भूखी निगाह से संसार को घूरा करती थीं। परित्यक्तों की, जिन्हें संसार के श्रमिकों की श्रेणी में सम्मिलित कर लिया गया था, यह प्रसन्नता, नगर की सड़कों पर चारों ओर चमकने लगी और नगर के घरों की धुँधली आँखें इसे बढ़ते हुए द्वेष और क्रूरता से देखने लगी।

उस भिखारी ने भी जिसे कल तक बड़े आदमी, उससे पीछा छुड़ाने के लिए एक पैसा फेंक दिया करते थे और ऐसा करके यह समझते थे कि आत्मा को शान्ति मिलेगी, यह शब्द सुना। यह शब्द उसके

(पेज 11 पर जारी)

पाश की शहादत (23 मार्च) की बीसवीं वर्षगाँठ पर

अवतार सिंह पाश का नाम आज पूरे देश में एक जाना-पहचाना नाम हो चुका है। 'हम लड़ेंगे साथी', 'सबसे ख़तरनाक' आदि कविताएँ क्रान्तिकारी जनसंगठनों के पोस्टरों-पत्रिकाओं आदि के माध्यम से लाखों लोग तक पहुँच चुकी हैं। शहीदे आज़म भगत सिंह की ज़मीन से पैदा हुए इस कवि की कविताओं में इंक़लाब की वही गर्मी थी और मेहनतकश जनता से जुड़ाव था, पूँजीवाद-साम्राज्यवाद से उतनी ही नफ़रत थी, मज़दूर-किसान जनता की ताक़त और भविष्य में उतना ही विश्वास था जैसाकि शहीदे आज़म भगत सिंह को था।

पाश अपनी किशोरावस्था में ही मार्क्सवाद से प्रभावित हुए और नक्सलबाड़ी किसान उभार के दो साल बाद ही कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी राजनीति से जुड़े। वह अपने विश्वासों की क़ीमत चुकाने के लिए हमेशा तैयार रहे। आपातकाल के दौरान भी उन्होंने आवाज़ उठायी। पंजाब में अस्सी के दशक में जब मजदूर, किसान जनता के कुछ मुट्ठी भर दुश्मन धर्म के आधार पर स्वंतत्र देश की माँग कर रहे थे, उस समय पाश ने साहस के साथ उनके ख़िलाफ़ आवाज़ उठायी। तमाम धमकियों के बावजूद उनकी लेखनी की आवाज़ को दबाया नहीं जा सका और 23 मार्च 1988 को खालिस्तानी आतंकवादियों ने धोखे से पाश की हत्या कर दी। यह भी कैसा संयोग है कि पाश भी उसी दिन शहीद हुए जिस दिन भगत सिंह फाँसी के फन्दे को चूमकर शहीद हुए थे।

पाश की शहादत की बीसवीं वर्षगाँठ पर हम उनकी एक चर्चित कविता 'प्रतिबद्धता' यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं।

–सम्पादक

प्रतिबद्धता

पाश

शहादत : 23 मार्च 1988

हम झूठ-मूठ का कुछ भी नहीं चाहते
जिस तरह हमारे बाजुओं में मछलियाँ हैं
जिस तरह बैलों की पीठ पर उभरे,
सोटियों के निशान हैं
जिस तरह क़र्ज़ के काग़ज़ों में
हमारा सहमा और सिकुड़ा भविष्य है
हम ज़िन्दगी, बराबरी या कुछ भी और
इसी तरह सचमुच का चाहते हैं

जिस तरह सूरज, हवा और बादल
घरों और खेतों में हमारे अंग-संग रहते हैं
हम उसी तरह
हुकूमतों, विश्वासों और खुशियों को
अपने साथ-साथ देखना चाहते हैं
जोरावरो, हम सबकुछ सचमुच का देखना चाहते हैं।

हम उस तरह का कुछ भी नहीं चाहते
जैसे शराब के मुक़दमे में,
किसी टाऊट की गवाही होती है,
जैसे पटवारी का 'ईमान' होता है,
या जैसे आढ़ती की क़सम होती है–
हम चाहते हैं अपनी हथेली पर कोई इस तरह का सच
जैसे गुड़ की पत्त में कण होता है,
जैसे हुक़्क़े में निकोटीन होती है
जैसे मिलन के समय महबूब के होंठों पर
कोई मलाई जैसी चीज़ होती है

हम नहीं चाहते
पुलिस की लाठियों पर टँगी किताबें पढ़ना
हम नहीं चाहते
हुनर का गीत, फ़ौजी बूटों की टाप पर गाना
हम तो पेड़ों पर खनकते संगीत को
ललक भरी पोरों से छूकर देखना चाहते हैं

आँसू-गैस के धुएँ में नमक चाटना
या अपनी जीभ पर अपने ही लहू का स्वाद चखना
किसी के लिए भी मनोरंजन नहीं हो सकता
लेकिन
हम झूठ-मूठ का कुछ भी नहीं चाहते
और हम सबकुछ सचमुच का देखना चाहते हैं–
ज़िन्दगी, समाजवाद, या कुछ भी और...।

कॉमरेड : एक कहानी

(पेज 10 से आगे)

लिए पहली भीख के समान था जिसने उसके ग़रीब, निर्धनता से नष्ट होते हुए हृदय को प्रसन्नता और कृतज्ञता से भर दिया था।

वह ताँगेवाला, एक छोटा सा भद्दा आदमी, जिसके ग्राहक उसकी पीठ में इसलिए घूँसे मारते थे कि जिससे उत्तेजित होकर वह अपने भूखे, टूटे शरीर वाले टट्टू को तेज़ चलाने के लिए हण्टर फटकारे। वह आदमी घूँसे खाने का आदी था। पत्थर की सड़क पर पहियों से उत्पन्न होने वाली खड़खड़ाहट की ध्वनि से जिसका दिमाग़ जड़ हो गया था उसने भी ख़ूब अच्छी तरह से मुस्कराते हुए एक रास्ता चलने वाले से कहा :

"ताँगे पर चढ़ना चाहते हो...कॉमरेड?"

यह कहकर, इस शब्द की ध्वनि से भयभीत होकर उसने घोड़े को तेज़ चलाने के लिए लगाम सम्हाली और उस राहगीर की तरफ़ देखा। वह अब भी अपने चौड़े, लाल चेहरे से मुस्कराहट दूर करने में असमर्थ था।

उस राहगीर ने प्रेमपूर्वक उसकी ओर देखा और सिर हिलाते हुए बोला :

"धन्यवाद, कॉमरेड! मुझे ज़्यादा दूर नहीं जाना है।"

अब भी मुस्कराते और प्रसन्नता से अपनी आँखें झपकाते वह ताँगेवाला अपनी सीट पर मुड़ा और सड़क पर खड़खड़ाहट का तेज़ शोर मचाते हुए चला गया।

फुटपाथों पर आदमी बड़े-बड़े झुण्डों में चल रहे थे और चिनगारी के समान वह महान शब्द, जो संसार को संगठित करने के लिए उत्पन्न हुआ था, उन लोगों में इधर से उधर घूम रहा था।

"कॉमरेड!"

एक पुलिस का आादमी – गलमुच्छेवाला, गम्भीर और महत्वपूर्ण, एक झुण्ड के पास आया, जो सड़क के किनारे व्याख्यान देने वाले वृद्ध मनुष्य के चारों ओर इकट्ठा हो गया था। कुछ देर तक उसकी बातें सुनकर उसने नम्रतापूर्वक कहा।

"सड़क पर सभा करना कानून के ख़िलाफ़ है...तितर-बितर हो जाओ, महाशयो..."

और एक क्षण रुककर उसने अपनी आँखें नीची कीं और धीरे-से बोला :

"कॉमरेडो..."

उन लोगों के चेहरों पर, जो इस शब्द को अपने हृदय में संजोये हुए थे और जिन्होंने अपने रक्त और मांस से इसे और एकता की पुकार की तीव्र ध्वनि को बढ़ाया था – निर्माता का गर्व झलकने लगा। और यह स्पष्ट हो रहा था कि वह शक्ति, जिसे इन लोगों ने मुक्तहस्त होकर इस शब्द पर व्यय किया था, अविनाशी और अक्षय थी।

उन लोगों के ख़िलाफ़, भूरी वर्दी पहने हथियारबन्द आदमियों के अन्धे समूह एकत्रित होने लगे थे। वे चुपचाप एक-सी पंक्तियों में खड़े थे। अत्याचारियों का क्रोध उन विद्रोहियों पर जो न्याय के लिए लड़ रहे थे फट पड़ने को तैयार था।

उस नगर की टेढ़ी-मेढ़ी संकरी गलियों में अज्ञात निर्माताओं द्वारा बनायी हुई ठण्डी, ख़ामोश दीवारों के भीतर मनुष्य के भाईचारे की भावना फैल रही थी और पक रही थी।

"कॉमरेडो!"

जगह-जगह आग भड़क उठी जो एक ऐसी ज्वाला में फूट पड़ने को प्रस्तुत थी जो सारे संसार को भाईचारे की मज़बूत और उज्ज्वल भावना में बाँध देने वाली थी। वह सारी पृथ्वी को अपने में समेट लेगी और उसे सुखा डालेगी। द्वेष, घृणा और क्रूरता की भावनाओं को जलाकर राख बना देगी जो हमारे रूप को विकृत बनाती हैं। वह सारे हृदयों को पिघलाकर उन्हें एक हृदय में – केवल एक हृदय में ढाल देगा। सरल और अच्छे स्त्री-पुरुषों का हृदय परस्पर सम्बन्धित स्वतन्त्र काम करने वालों का एक सुन्दर स्नेहपूर्ण परिवार बन जायेगा।

उस निर्जीव नगर की सड़कों पर जिसे गुलामों ने बनाया था, नगर की उन गलियों में जहाँ क्रूरता का साम्राज्य रहा था, मानव में विश्वास तथा अपने ऊपर और संसार की सम्पूर्ण बुराइयों पर मानव की विजय की भावना बढ़ी और शक्तिशाली बनी।

और उस बेचैनी से भरे हुए नीरस अस्तित्व के कोलाहल में, एक दीप्तिमान, उज्ज्वल नक्षत्र के समान, भविष्य को स्पष्ट करने वाली उल्का के समान, वह हृदय को प्रभावित करने वाला सादा और सरल शब्द चमकने लगा :

"कॉमरेड!"

 पंजीयन संख्या - 71980/99, डाक पंजीयन संख्या - LW-NP/349/2006-08

रेल बजट : लालू स्टाइल

'चक दे रेलवे' बोले तो चक दे कारपोरेट और पब्लिक को 'जादू की झप्पी'

भेस-बाना निपट देहाती का भले हो लेकिन रेल मंत्री लालू प्रसाद सचमुच कारपोरेट मैनेजमेण्ट गुरु हैं। वह अच्छी तरह जानते हैं कि पब्लिक को खुश कैसे रखा जाये और कैसे अपने टार्गेट पर आगे बढ़ते रहा जाये। अपने खालिस स्टाइल में उन्होंने यूपीए सरकार का पाँचवाँ रेल बजट पेश करते हुए अपने वोटर को तो टार्गेट किया ही लेकिन असली टार्गेट को आँखों से ओझल नहीं होने दिया–निजीकरण-उदारीकरण की गाड़ी को अगले स्टेशन तक पहुँचाने का टार्गेट।

रेल को मुनाफ़े में पहुँचा देने के लिए अपनी पीठ खुद थपथपाते हुए लालू प्रसाद ने अपनी जादूगरी के ज़रिये तमाम लोकलुभावन घोषणाओं का सम्मोहनकारी वातावरण रचा और अपनी असली करामात को पब्लिक की आँखों से ओझल कर दिया। आम और खास दोनों पब्लिक खुश कि यात्री किराये में कमी कर लालू ने कमाल कर दिया पर असली करामात पर लोगों का ध्यान ही नहीं गया। पब्लिक को 'जादू की झप्पी' से खुश करते हुए लालू जी ने 'चक दे रेलवे' का नारा उछाला पर असल में हुआ 'चक दे कारपोरेट'। आइये देखें, कैसे?

लालू जी ने आम तौर पर माल भाड़े में भी कोई बढ़ोत्तरी नहीं की। ऐसी हर रियायत का फायदा पूँजीपतियों-व्यापारियों की झोली में ही जाता है। वह पब्लिक तक नहीं पहुँचता। ख़ास तौर पर उन्होंने डीजल और पेट्रोल की ढुलाई के भाड़े में पाँच प्रतिशत और फ्लाई ऐश की ढुलाई में छह प्रतिशत की कमी कर पेट्रोलियम उत्पादक कम्पनियों को ही नहीं बल्कि सभी कम्पनियों को जबर्दस्त राहत दी है। इससे उनकी उत्पादन लागत में जो कमी आयेगी उसका फ़ायदा भी आम उपभोक्ताओं तक पहुँचने से रहा।

धीरे-धीरे करके किस्तों में रेलवे के निजीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हुए मंत्री महोदय ने इस बार रेलवे टर्मिनलों के रखरखाव को निजी हाथों में सौंपने की हरी झण्डी दे दी है। कण्टेनर सेवाएँ पहले ही निजी हाथों में सौंपी जा चुकी थीं। पटना, मुम्बई, दिल्ली और सिकन्दराबाद रेलवे स्टेशनों को विश्व स्तरीय बनाने का सपना निजीकरण के रास्ते ही पूरा होगा। इसके साथ ही अब निजी पूँजीपति बिजली एवं इंजन चालित कारखाना भी लगा सकेंगे। ज़ाहिर है कि यह पहले से मौजूद डी एल डब्ल्यू और चितरंजन जैसे इंजन कारखानों के लिए मौत का परवाना है। इसके अलावा इस बार लालू जी ने सुपरफास्ट और एक्सप्रेस ट्रेनों की धुलाई का काम भी निजी हाथों में सौंपने का ऐलान कर दिया है। इस बार निजी नियंत्रण वाले 40 कण्टेनर डिपो संचालित करने की इज़ाजत दे दी गयी है।

देशी-विदेशी पूँजीपतियों पर मेहरबानियाँ अभी और भी हैं! पूँजीपतियों को माल यहाँ से वहाँ ले जाने में अभी मौजूद दिक्क़तों को दूर करना भी लालू जी नहीं भूले। लक्ष्मी मित्तल से लेकर तमाम विदेशी पूँजीपति लौह खनिजों की खुदाई के ठेके पा चुके हैं। इनका माल ढोने के लिए रेलवे हाज़िर है। लालू जी की घोषणा के अनुसार कई लौह खनिज मार्ग बनाये जायेंगे। बन्दरगाहों तक उन्हें जोड़ा जायेगा। स्वर्णिम-चतुर्भुज योजना के तहत पूरब-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण मालवाही गलियारा बनाने का काम तेज़ कर दिया जायेगा। माल ढोने के लिए वैगनों की क्षमता भी बढ़ाई जायेगी।

लालू यादव हर बजट में चुपके-निजीकरण की रेल एक स्टेशन और आगे बढ़ा देते हैं। रेलवे में खाली पड़े कुक डेढ़ लाख से अधिक पदों पर वह फिर चुप्पी साध गये। बस कुलियों को गैंगमैन बना दिया। वह भी सशर्त। जगह खाली होने और योग्य होने पर। कुछ आर पी एफ के सिपाही बढ़ा दिये। बस, इसके बाद जादू की झप्पी है ही–लोक लुभावन ऐलान। आइये अब इसकी भी पड़ताल हो जाये।

यात्री किरायों में कमी का मामला यह है कि लालू जी कान सीधे नहीं घुमा-फिराकर पकड़ते हैं। वह यात्रियों की जेब से जैसे-तैसे पैसा निकाल ही लेते हैं। एक रुपये-दो रुपये, दो प्रतिशत-चार प्रतिशत किरायें में जो कमी करते हैं उसे वे वसूल लेते हैं–ट्रेनों को सुपरफास्ट बनाकर, उसके फेरे बढ़ाकर और रूट को बढ़ाकर (जिससे दो स्थानों के बीच की दूरी और किराया दोनों बढ़ जाता है), तत्काल कोटे की अवधि और संख्या बढ़ाना, टिकट वापसी पर ज्यादा पैसा काटना आदि। इसी तरह की अनेक चार सौ बीसी हथकण्डों के ज़रिये ही तो लालू जी ने रेलवे को 2500 करोड़ रुपये का मुनाफा कराया है।

रेलवे की आय बढ़ाने का एक और फण्डा लालू जी ने खूब लागू किया–मालगाड़ी के डिब्बों में क्षमता से अधिक माल लदवाना। जो काम पहले व्यापारी माल बाबुओं को 'सुविधा-शुल्क' देकर कराते थे लालू जी ने उसे कानूनी बना दिया। अब भले ही रेल-पटरियाँ अपनी दुर्गति पर रोयें, दुर्घटनाएँ बढ़ें, इसकी लालू जी को ज्यादा परवाह नहीं क्योंकि रेलवे की सुरक्षा और संरक्षा के मद में इस बार भी कोई खास बढ़ोत्तरी नहीं हुई। यात्री सुविधाओं को बढ़ाने के नाम पर भी थोथी कवायदें ही फिलहाल ज़्यादा हैं।

लालू जी खुद को विजनरी (स्वप्नद्रष्टा) भी मानते हैं। अगले छह महीने में वह विज़न-2025 के नाम से एक दस्तावेज़ तैयार करेंगे जिसमें भविष्य के रेलवे का खाक़ा खींचा जायेगा। कारपोरेट जगत इसका बेसब्री से इन्तज़ार करेगा। फिलहाल तो अपने 'मैनेजमेण्ट गुरु' से वह खुश है और बरबस उसके मुँह से फूट पड़ रहा है–'चक दे लालू'।

–आनन्द देव

राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी योजना के पाखण्ड का देशव्यापी विस्तार

बिगुल संवाददाता

दिल्ली। वित्त मंत्री पी. चिदम्बरम ने अपनी पार्टी के चुनावी भविष्य को सँवारने की मंशा से इस बार के बजट में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी योजना को राष्ट्रव्यापी विस्तार दे दिया है। अब यह योजना देश के कुल 596 जिलों में लागू होगी। चिदम्बरम ने इसके लिए 16 हज़ार करोड़ रुपये मुहैय्या कराने का वादा किया है।

बताते चलें कि राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी योजना सितम्बर 2005 में अधिसूचित की गयी थी। फरवरी 2006 में इसका पहला चरण लागू हुआ था जिसमें 200 जिलों को शामिल किया गया था। अप्रैल 2007 में इसमें 130 जिलों को और शामिल कर लिया गया। अब इसे बढ़ाकर सभी 596 जिलों में लागू करने की घोषणा की गयी है।

यह योजना कितना बड़ा सरकारी शगूफा है इसके बारे में तमाम गैर सरकारी संस्थाएँ रिपोर्टें निकाल चुकी हैं। 'बिगुल' में भी कई अंकों में इसकी पोल खोलते हुए टिप्पणियाँ दी जा चुकी हैं। इस योजना का दायरा देशव्यापी कर चिदम्बरम ने इस गोरखधन्धे को देशव्यापी विस्तार दे दिया है।

इस बजट के पहले इस योजना में शामिल 330 जिलों के लिए अब तक सरकार ने 12 हज़ार करोड़ रुपये आबण्टित किये थे। अब इसमें 269 और जिलों को शामिल किया जायेगा लेकिन पैसा दिया गया है केवल 16 हज़ार करोड़ रुपये यानी केवल 400 करोड़ रुपये की बढ़ोत्तरी। योजना में शामिल जिलों में बढ़ोत्तरी के मद्देनज़र पुरानी दर के हिसाब से ही सरकार को कुल लगभग 22 हज़ार करोड़ रुपये देने चाहिए थे यानी लगभग 10 हज़ार करोड़ रुपये की बढ़ोत्तरी करनी चाहिए थी। केवल इसी एक तथ्य से इस योजना के पाखण्ड को समझा जा सकता है।

लेकिन इस योजना को देशव्यापी विस्तार देने के नाम पर चिदम्बरम ने एक घपलेबाजी और की है। उन्होंने ग्रामीण क्षेत्रों में लागू एक अन्य रोजगार योजना–'सम्पूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना'–को समेटकर उसे राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी योजना में मिला दिया है। इस योजना के लिए पिछले वित्त वर्ष 2007-2008 में चिदम्बरम ने 420 करोड़ रुपये आबण्टित किये थे। इसे लेकर इस योजना की कुल राशि 3420 करोड़ रुपये हो गयी थी। इस योजना को राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी योजना में मिलाकर चिदम्बरम ने दरअसल इसके मद में वास्तव में केवल 600 करोड़ रुपये ही अतिरिक्त दिये हैं जबकि वह 4000 करोड़ रुपये देने का ढिंढोरा पीट रहे है। इसी तरह की घपलेबाजियों का हुनर चिदम्बरम ने अमेरिका के हावर्ड विश्वविद्यालय में सीखा है! नाहक ही नहीं वह पूँजीपतियों के दुलारे हैं।

राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी योजना का घोषित लक्ष्य है ग्रामीण क्षेत्र की बेरोजगारी को दूर करना लेकिन असली अघोषित लक्ष्य है ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी औद्योगिक केन्द्रों की ओर पलायन की रफ्तार कम करके पूँजीपतियों और सरकार का सिरदर्द कम करना। वैसे जमीनी स्तर पर इस योजना का भी वही हश्र है जो अन्य सभी तथाकथित सरकारी कल्याणकारी योजनाओं का हुआ करता है।

रा.ग्रा.रो.गा. योजना के तहत केवल 100 दिन के रोजगार की गारण्टी है। मज़दूरी न्यूनतम मज़दूरी से भी कम दर पर मिलती है। योजना का फायदा उसी को मिलता है जिसके पास 'जॉब कार्ड' होता है और 'जाब कार्ड' उसी को मिलता है जिस पर ग्राम प्रधान-लेखपाल की मेहरबानी होती है। यह मेहरबानी बिना 'सुविधा शुल्क' दिये मिलती नहीं। ज्यादातर तो ये भुगतान कागजों पर ही हो रहा है या ग्राम प्रधान इसमें दिल चस्पी ही नहीं लेते। कारण यह कि इस योजना के तहत हुए काम की सीडी बीडीओ को दिखाकर ही रकम रिलीज करवायी जा सकती है। यानी, बी.डी.ओ. से लेकर सी.डी.ओ. तक सबको हिस्सा-बखरा लेना होता है। इसके बाद कितने लोगों को वास्तविक काम के बदले वास्तविक मज़दूरी मिलती होगी इसका अनुमान पाठक स्वयं लगा सकते है'। ग्रामीण क्षेत्रों के 'बिगुल' के पाठक इस योजना की सच्चाई को अपने खुद के अनुभवों से ही जानते होंगे।

मज़दूरों का राज ही किसानों की बेबसी दूर कर सकता है!

बिगुल संवाददाता

दिल्ली। वर्ष 2008-2009 के बजट में दो हेक्टेअर जोत वाले किसानों की कर्जमाफी का ऐलान कर विरोधी चुनावबाजों को चित्त करने वाले चिदम्बरम की खैरात समूचे देश के किसानों की ऋणग्रस्तता के मुकाबले ऊँट के मुँह में जीरे के बराबर है। खुद सरकारी संस्था राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन के आँकड़े ही इसकी गवाही दे रहे हैं।

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण की ताज़ा रिपोर्ट के अनुसार केवल 36 फीसदी किसान ही बैंकों या सरकारी संस्थानों से क़र्ज लेते हैं। बाकी 64 फीसदी किसान साहूकारों या दूसरे स्रोतों (रिश्तेदारों-मित्रों आदि) से क़र्ज लेते हैं। इस रिपोर्ट में गाँव की कुल आबादी में से 60 फीसदी को किसान माना गया है। इस हिसाब से कुल किसान परिवारों की संख्या नौ करोड़ है जिसमें से 48.6 प्रतिशत किसान कर्ज से दबे हुए हैं। इसमें 300 रुपये तक कर्ज लेने वाले किसान शामिल हैं।

रिपोर्ट के अनुसार आंध्र प्रदेश के किसान सबसे ज्यादा कर्जदार हैं। यहाँ के 82 फीसदी किसानों ने कर्ज ले रखे है। तमिलनाडु के 74.5 फीसदी और पंजाब के 65.4 फीसदी किसान कर्जदार हैं। विदर्भ में 36 लाख परिवार कर्ज में डूबे हुए हैं।

रिपोर्ट के अनुसार कुल किसान परिवारों में 66 फीसदी किसान परिवार एक हेक्टेअर या इससे कम जमीन के मालिक हैं। इनमें से 45 फीसदी कर्ज से डूबे हुए हैं। 50 फीसदी परिवारों ने खेती के लिए जबकि 10 फीसदी कर्ज शादी व अन्य कामों के लिए लिये गये हैं।

इन आँकड़ों से साफ़ है कि चिदम्बरम की कर्जमाफी का फौरी लाभ भी 50 फीसदी से कम किसानों को मिल पायेगा। विदर्भ क्षेत्र के किसानों को, जहाँ सबसे अधिक किसान आत्महत्याएँ कर रहे हैं, इस राहत का सबसे कम लाभ पहुँचेगा क्योंकि वहाँ औसत रक़बा 15-16 एकड़ का है। जिन किसानों को फौरी राहत मिलेगी वे भी अगली फसल के लिए फिर बैंकों के पास कर्ज लेने जायेंगे। लेकिन अब किसानों को फौरी राहत के लिए फिर पाँच साल इन्तजार करना पड़ेगा यानी जब फिर से चुनावी मौसम आयेगा। तब तक उनकी दुनिया उजड़ चुकी होगी। उनमें से बहुत से परिवार किसान की जगह मज़दूर परिवार बन चुके होंगे।

दरअसल यह पूँजीवादी खेती का संकट है जो पूँजीवाद के खात्मे के बाद ही खत्म होगा। मेहानतकश किसानों को इस सच्चाई को समझाने की ज़िम्मेदारी मज़दूर वर्ग और उनके हरावलों की है। उन्हें इस सच्चाई में विश्वास दिलाना होगा कि मज़दूरों की सत्ता ही उनकी बेबसी को दूर कर सकती है।

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी डा. दूधनाथ द्वारा 69, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा वाणी ग्राफिक्स, अलीगंज, लखनऊ से मुद्रित। कम्पोजिंगः कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ।
सम्पादक : डा. दूधनाथ ● सम्पादकीय पता : 69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 ● सम्पादकीय उपकार्यालय : जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ